किशोर-उपन्यास-माला क्रम : ४६

सुशील कुमार

उमेश प्रकाशन
५, नाथ मार्केट, नई सड़क, दिल्ली-६

Mahakavi Kalidas

by

Susheel Kumar

Rs. 2.00
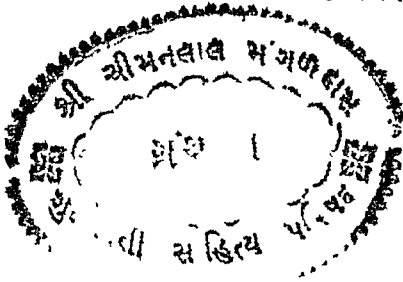
प्रकाशक	उमेश प्रकाशन ५, नाथ मार्केट, नई सड़क, दिल्ली-६
मुद्रक	मूवीज़ प्रेस चावड़ी बाज़ार, दिल्ली-६
आवरण-मुद्रक	परमहंस प्रेस दरियागंज, दिल्ली
आवरण चित्र	जगदीश चड्ढा
भाव चित्र	हरिपाल त्यागी
संस्करण	प्रथम (१९६६)
मूल्य	दो रुपये

किशोर-उपन्यास-माला
का
उद्देश्य

किशोरों का मनोरंजन करे, साथ-साथ उनके ज्ञान में वृद्धि भी करे, ऐसे विषयों के प्रकाशन का उद्देश्य लेकर इस किशोर-उपन्यास-माला का आरम्भ किया गया है।

हिन्दी में किशोरों के लिए किशोर-साहित्य का लगभग अभाव-सा ही है। प्रस्तुत पुस्तक महाकवि कालिदास के जीवन को आधार बनाकर उपन्यास के रोचक माध्यम से किशोर-पाठकों को भेंट की जा रही है।

बालकों एवं किशोरों द्वारा जिस चाव से इस उपन्यास-माला का स्वागत हुआ है, उससे प्रेरित होकर भविष्य में भी प्रेरणादायक एवं नई-नई रोचक सामग्री आकर्षक ढंग से देते रहने में हम सदैव प्रयत्नशील रहेंगे।

हमें विश्वास है कि किशोर-पाठक हमारी किशोर-उपन्यास-माला की अन्य पुस्तकों की तरह इस पुस्तक का भी हार्दिक स्वागत करेंगे।

किशोर-उपन्यास-माला

[सचित्र, सरस तथा स-उद्देश्य]

वीर रस से पूर्ण

अर्जुन	दुर्गादास
हल्दी घाटी	श्री कृष्ण
खूब लड़ी मर्दानी	वीर कुँवरसिंह
गुरु गोविन्द सिंह	सम्राट् शिलादित्य
चित्तौड़गढ़ की रानी	चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य
वीरांगना चेन्नम्मा	महाबली छत्रसाल
गढ़मण्डल की रानी	बाजीराव पेशवा
जय भवानी	वीर कुणाल
कर्ण	भीष्म

अन्य महापुरुषों पर आधारित

महाकवि कालिदास	गुदड़ी का लाल लालबहादुर
शान्ति—दूत नेहरू	मदुरा की मीनाक्षी
ऋषि का शाप	देवता हार गए
गुरु नानक देव	सम्राट् अशोक
गुरु अंगद देव	मीरा बावरी
गुरु अमरदास	संत कबीर
गौतम बुद्ध	रवि बाबू

बापू

शेक्सपियर के नाटकों पर आधारित

तूफान	हैमलेट	भूल पर भूल
मैकबेथ	राजा लियर	रोमियो जूलियट
जूलियस सीजर	राई से पहाड़	वेनिस का सौदागर

शिकार एवं ज्ञान-विज्ञान पर आधारित

पूपू	हाथी का शिकार	मगरमच्छ का शिकार
और लल्ली	बाघ का शिकार	दैत्याकार पक्षी का शिकार
	ह्वेल का शिकार	

एक

आधी रात बीत चुकी थी। महाकाल के मन्दिर का सबसे ऊँचा-सुनहरा कलश चन्द्रमा के प्रकाश में इस तरह दमक रहा था जैसे निर्मल आकाश पर कोई नया नक्षत्र उग आया हो। मन्दिर से सटा हुआ एक लम्बा-चौड़ा उपवन था, बीच में सरोवर। सरोवर से एक सँकरा-सा रास्ता उपवन के पश्चिमी भाग की ओर चला गया था। पूरे रास्ते पर सफेद और रंगीन पत्थर जड़े हुए थे। उसी पर एक भारी-भरकम गम्भीर व्यक्ति धीरे-धीरे टहल रहा था।

उसकी अवस्था पचास वर्ष से अधिक की ही होगी। पर देखने में वह किसी युवक से भी अधिक फुर्तीला लगता था। देह पर केवल एक रेशमी वस्त्र था, नीला, जिसकी सिकुड़नें चन्द्रमा के प्रकाश में लहरों जैसी दिखाई देती थीं। दोनों बाहों में सोने के बन्द थे। उसमें जड़े हुए रत्न जगमगा रहे थे। माथे पर छोटा-सा मुकुट था, जिसके सहारे लम्बे-लम्बे बाल पीछे की ओर रुके हुए थे।

टहलते-टहलते एकाएक रुककर ध्यान से सुना। हाँ, किसी की आहट है। मुड़कर पीछे की ओर देखा।

अधिक देर नहीं लगी। पश्चिमी भाग में बने सुन्दर-से भवन के सामने लताओं और फूलों के झाड़ और घने कुंज

वहीं से एक परछाई-सी बाहर निकली और धीरे-धीरे उस ओर बढ़ने लगी। शायद कोई दूत है!

दो-तीन पग पीछे ही रुककर वह बोला, "आर्य हरिषेण की जय हो!"

"कौन? कंथक?"

"हाँ, देव!" कंथक चौक पड़ा; बोला, "दास तो अभी-अभी महानगरी उज्जियनी में पहुँचा है। फिर स्वामी को..."

हरिषेण हँसकर बोले, "तुम्हें आश्चर्य हो रहा है कि मैंने तुम्हारा नाम कैसे जान लिया। जब तुमको नगर के द्वार पर रोककर सैनिकों ने तुम्हारा परिचय पूछा था, उसी समय मेरे पास सूचना आ गई थी।"

कंथक ने फिर भी अचरज से कहा, "पर वहाँ तो मैंने झूठा नाम बताया था।"

हरिषेण फिर हँसे; बोले, "फिर भी मैं जान गया। मेरा दास तुम्हें पहचानता है। हाँ, बोलो! क्या संवाद लाए हो?"

कथक ने सिर झुका लिया; बोला, "महादेवी ने तुरन्त आपको पाटलिपुत्र बुलाया है।"

हरिषेण की भौंहें चढ़ गईं, "महादेवी ने? क्यों?"

कंथक कुछ नहीं बोला। हरिषेण ने जैसे उससे उत्तर पाने की आशा भी नहीं की थी। बेचारे दूत को महादेवी भला कारण क्यों बतातीं? कंथक कुछ बता नही सकेगा। किन्तु, इस प्रकार सहसा बुलावा आ जाने से वह चिंतित हो उठे। क्या कारण हो सकता है? उन्होंने पूछा, "सम्राट् कुशल से तो हैं?"

कंथक ने जैसे सम्राट् को प्रणाम करने के लिए माथा झुकाकर कहा, "हाँ, आर्य! सम्राट् की कृपा से सारी धरती कुशल से है।"

आर्य हरिषेण ने आज्ञा दी, "जाओ, मेरा आदेश दो, कल

सूर्योदय के साथ ही हम लोग पाटलिपुत्र के लिए चल पड़ेंगे।"

कंथक चला गया। हरिषेण के हृदय में आँधी-सी उठ खड़ी हुई। वह कुछ समझ नहीं पा रहे थे। पिछले कितने ही वर्षों से राजकाज में डूबे रहे हैं। पता नहीं कितनी बार मगध-सम्राट् समुद्रगुप्त के साथ दिग्विजय-यात्रा की है। कितने ही राजाओं को परास्त किया है; कितने ही घमंडी नरेशों का गर्व चूर-चूर कर दिया; कितनों से मित्रता की; कितनों को वन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया। कुछ दासों की तरह बेच दिए गए। कितनों को कर लेकर छोड़ दिया। महाराज के भय से पता नहीं कितने देशों के अधिपतियों ने हाथी-घोड़े, दास-दासी, मणि-रत्न और मूल्यवान उपहार देकर संधि कर ली। सामन्त बन गए। इन विजयों में अमात्य हरिषेण का सबसे अधिक हाथ रहा। कहीं संधि और कहीं विग्रह (युद्ध)। अमात्य हरिषेण ही युद्ध और शान्ति का निर्णय करने वाले सांधिविग्रहिक हैं।

दिग्विजय के बाद सम्राट् समुद्रगुप्त ने कई यज्ञ किए। अश्वमेध यज्ञ भी किया। उनके भय से चारों ओर शान्ति बनी रही। सम्राट् ने तलवार रखकर वीणा उठा ली। राज-सभा में युद्ध की जगह संगीत और कविता की छटा छा गई। भय कुछ कम हुआ तो दबी हुई आग भड़क उठी। सारे साम्राज्य में कोलाहल-सा मच गया। कहीं-कहीं युद्ध भी हुआ। कलिंग के राजा ने भी अपनी विशाल हाथियों की सेना के घमंड में चूर होकर विद्रोह किया था। उस समय छोटे राजकुमार चन्द्रगुप्त के साथ जाकर आर्य हरिषेण ने उसका दमन किया।

युद्ध की लाली में वर्षों तक डूबे रहने के बाद अमात्य हरिषेण शान्ति के लिए बेचैन हो उठे। बड़े राजकुमार रामगुप्त राज-काज में मन नहीं लगाते। उन्हें नाटक, संगीत और तरह-तरह के खेलों में ही आनन्द आता है पर, चन्द्रगुप्त वीर है।

और सेनापति का शौर्य है, इसीलिए सारे राज्य में शान्ति छाई हुई है। सम्राट् से आज्ञा लेकर अमात्य हरिषेण कुछ दिन तक शान्ति पाने की लालसा से तीर्थ-यात्रा पर निकल पड़े। उनके आते समय सम्राट् हँस पड़े थे ; बोले, "हरिषेण, मैं तुम्हें जानता हूँ, क्या सचमुच राजकाज से ऊब गए हो ?"

अमात्य हरिषेण ने कहा, "देव की जय हो ! कुछ दिनों तक ऐसे ही विचरने का मन करता है। एक बार सोचता हूँ, महाकाल के चरणों में रहकर मन के पाप धो डालूँ।"

सम्राट् ने हँसकर कहा, "जिस हरिषेण का एक-एक क्षण अपनी जन्म-भूमि की सेवा में बीता है, उसके मन में पाप कहाँ से आएगा ? फिर भी तुम्हारी जैसी इच्छा।"

उस समय सम्राट् स्वस्थ नहीं थे। उनकी अवस्था अधिक हो चुकी है। तलवार की झनकार, धनुष की टंकार और वीणा के तारों की मधुर झंकार—तीनों पर सम्राट् की जिन बाहों का बराबर अधिकार था, वह अब समय के प्रहार से ढीली पड़ गई है। सब महाकाल की लीला है।

हरिषेण यात्रा पर चले गए थे। कहने को तीर्थ-यात्रा ही थी, पर और भी बहुत-कुछ था, जिसे केवल वही जानते थे। आज प्रातःकाल उनके अपने गुप्तचर ने सूचना दी थी कि सम्राट् कई दिनों से राजसभा मे नहीं आए।

दोपहर को दूतों ने बताया कि पश्चिम की ओर से एक पीली आँधी उठ रही है – वह आँधी है शकों की सेना। दुष्ट और कठोर शक लोग ख़ून के प्यासे हैं। कहीं सोने जैसी खड़ी फसल को जला देते हैं, कहीं गाँव-के-गाँव लूटकर आग लगा देते हैं और कहीं स्त्रियों और पुरुषों को पकड़कर उनसे पशुओं की तरह काम लेते हैं। धीरे-धीरे यह पीली आँधी पूरब की ओर बढ़ रही है।

हरिषेण चिन्तित हो उठे थे। महाकाल के चरणों में घंटों वैठे रहे। यह कैसा दुर्दिन है, भगवन् ? क्या होने वाला है ?

पता नहीं कितनी देर तक वह टहलते रहे। शान्ति की जगह चिन्ता वढ़ती जा रही थी। लगता था जैसे, जितना ही सोचते जाएँगे, उतना ही दुख वढ़ता जाएगा। इधर युवराज रामगुप्त भी राजकुमार चन्द्रगुप्त से प्रसन्न नहीं हैं। इस वीच उन्होंने चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र से हटाकर विदर्भ की ओर भेज दिया है। क्यों ?

चिन्ता, चिन्ता, चिन्ता··· कुछ भी तो समझ में नहीं आता। सव कुछ उलट-पलट गया है।

हरिषेण और भी तेजी से घूमने लगे। चन्द्रमा धीरे-धीरे पश्चिम की ओर झुक गया था। शायद, भोर होने ही वाली है। सहसा उसी समय वहुत ही मधुर स्वर सुनाई पड़ा। इतना मधुर कि आर्य हरिषेण का चिन्ता और दुख से भरा हृदय जैसे जादू के वल से खिल उठा। कानों में मानो धीरे-धीरे कोई अमृत उड़ेल रहा हो। मीठा राग नस-नस में दौड़ गया। सव कुछ भूल-कर हरिषेण जैसे मंत्र से वाँधे हुए व्यक्ति की तरह आपा खोकर सरोवर की ओर वढ़ चले। आगे · और आगे···

सरोवर के दक्षिणी घाट पर रजनीगन्धा का घना झाड़ था। उसी के निकट घास पर पसरा पड़ा एक वहुत सुन्दर युवक कुछ गुनगुना रहा था। शरीर पर सफेद रंग का एक ही वस्त्र। उसकी अधमुँदी आँखें चन्द्रमा की ओर लगी हुई थीं।

अरे ! आर्य हरिषेण की आँखें फटी-की-फटी रह गईं। एक काला नाग युवक के पैरों के पास कुण्डली मारकर फन उठाए खड़ा झूम रहा था। युवक ज़रा भी हिला कि नागराज उस पर झपट पड़ेगा। हरिषेण ने सोचा, वुलाकर युवक को सावधान कर दें, पर वह गुनगुनाने में डूवा हुआ था। कहीं उनकी आवाज़

सुनकर एकाएक चौंक पड़ा तो…

संगीत की मिठास धीरे-धीरे उन पर फिर छा गई। लगा कि वह अचेत हो जाएँगे। कुछ भी बोलने का मन नहीं हो रहा था। धीरे-धीरे वह पास पहुँचकर नाग के एकदम निकट बैठ गए। नहीं, कोई भय नहीं। सब कुछ संगीत में डूब गया है। नाग वैसे ही फन उठाए धीरे-धीरे झूमता रहा…

दो
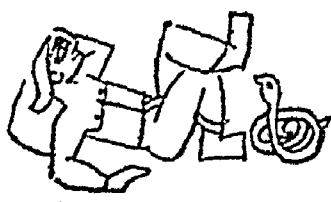
एकाएक जैसे सपना टूट गया हो। युवक ने गुनगुनाना बंद कर दिया। दूसरे ही पल हरिषेण ने उसका पैर अपनी ओर खींच लिया। जैसे नागराज का भी सपना टूट गया। वह धीरे से सरककर युवक के एकदम पास से होता हुआ रजनीगन्धा के झुरमुट में चला गया।

थोड़ी देर की चुप्पी के बाद हरिषेण ने पूछा, "कौन हो तुम ?"

"मैं···मैं कौन हूँ !" युवक जैसे सपने में बोल रहा था।

"हाँ, कौन हो तुम ? क्या नाम है तुम्हारा ?"

युवक एकाएक जाग-सा पड़ा। बोला, "मैं ? मैं हूँ कालिदास।"

"कालिदास ? कहाँ रहते हो ?"

"मैं ? जहाँ हूँ।"

"क्या करते हो ?"

"यही, जो कर रहा हूँ।"

हरिषेण मुस्कुराए ; बोले, "तुम सो रहे हो ?"

"मैं नहीं जानता।"

आर्य हरिषेण ने उठते हुए अपने साथ ही उसका हाथ पकड़कर उठा लिया ; बोले, "चलो, मेरे साथ चलो !"

"कहाँ ?"

"मगध की राजधानी—पाटलिपुत्र ।"

कालिदास की आँखें चमक उठीं । उन्होंने दोनों हाथों में हरिषेण की हथेली दवाते हुए कहा, "पाटलिपुत्र !"

हरिषेण स्नेह से मुस्कुराए, "हाँ, वहीं चलो । तुम योग्य हो । गुणी हो । मैं तुम्हें पहचान रहा हूँ । तुम्हारा मूल्य वहुत अधिक है, कालिदास !"

"मूल्य ?" कालिदास कुछ नहीं समझ रहे थे, "कैसा मूल्य ?"

हरिषेण ने कहा, "हीरे का मूल्य पारखी ही समझ सकता सकता है, कालिदास ! औरों के लिए तो वह पत्थर का टुकड़ा ही है । तुम हीरे से भी अधिक कीमती हो, पर यहाँ तुम्हारा मूल्य कोई नहीं आँक सकता । हीरे का आदर तो राजमुकुट में जड़कर ही किया जा सकता है ।"

"राजमुकुट ! कालिदास के हाथों से हरिषेण की हथेली जैसे अपने-आप छूटकर खिसक गई । एक पग पीछे हटकर कालिदास ने पूछा, "मेरा राजमुकुट से क्या नाता ? आप कौन हैं ?"

हरिषेण को जान पड़ा कि राजमुकुट की वात सुनकर कालिदास एकाएक कठोर हो पड़े हैं । उनके स्वर से घृणा टपक रही थी ; राजमुकुट के लिए अपमान भरा हुआ था ; वोले, "हमारे सम्राट् समुद्रगुप्त इस समय धरती के सवसे पराक्रमी योद्धा है, कालिदास ! और साथ-ही-साथ कला के भी वड़े पुजारी हैं । कवि है, गायक हैं, वीणा के तार से उनकी अँगुलियों के छूते ही अपने-आप मन को कँपा देने वाली मोहक झंकार पैदा होने लगती है ।"

"हाँ," कालिदास ने होंठ सिकोड़कर अपमानभरे स्वर में

कहा, "उनके धनुष की टंकार से दसों दिशाएँ काँपती हैं। उनके फरसे से पता नहीं कितने निर्दोषों का लाल गरम लहू टपकता है। उनके एक इशारे पर कितनी ही सुहागिनों का सिन्दूर धुल जाता है। उनके भय से धरती डगमग-डगमग होती रहती है; वही सम्राट् न !"

दो डग और हटकर कालिदास फिर बैठ गए। वह मुँह फेर-कर इस प्रकार सरोवर की लहरों पर चाँदी की तरह झिलमिल करता फेन देखने लगे, जैसे आस-पास कोई और है ही नहीं।

हरिषेण चकित हो गए। विचित्र है यह युवक ! आज धरती पर पहली बार उनको ऐसी बातें सुनने को मिली थीं। कालिदास ने जो कुछ कहा है, उसे वह स्वय भी मानते है। पर उनके स्वर में जो अपमान है, घृणा है, हरिषेण ने उसे पहली बार अनुभव किया था। इस युवक के कण्ठ का स्वर अभी-अभी अमृत के समान मधुर लग रहा था। पर इस समय उसी स्वर से जैसे पिघले हुए अंगारे बहकर हरिषेण के रक्त में मिल गए। उनका शरीर दहकने लगा। आँखों से चिनगारियाँ बरस पड़ी। भौहें खिच गई। क्रोध के मारे वह एक शब्द भी न बोल सके। पत्थर की तरह खड़े रह गए।

एकाएक कालिदास ने कहा, "सुनकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ था। एक बार पाटलिपुत्र जाने की बड़ी लालसा थी। पर आप तो व्यापारी निकले। रत्नों का ही व्यापार करते तो ठीक था; आप तो मनुष्यों का भी व्यापार करते है। आपके सम्राट् क्या हर व्यक्ति को दास समझकर खरीदते है ?"

"कालिदास !" महामात्य ने धीर-गम्भीर स्वर से उन्हें रोका, "तुम सम्राट् का अपमान कर रहे हो।"

"मैं किसी का अपमान नही कर रहा हूँ। जो सच है, वही कह रहा हूँ।"

हरिषेण के पास पहुँचकर उनका हाथ पकड़ते हुए कालिदास ने कहा, "आप मेरी वात को समझ नहीं सकते। आप नहीं समझेंगे। मैंने अपनी आँखों से वह सब देखा है···किसी का सिर नहीं, किसी का हाथ कटा है, कहीं किसी माँ की देह खून में डूबी पड़ी है और छोटा-सा बच्चा आग की लपटों में झुलसकर उसकी छाती पर विलख रहा है···क्यों, क्या हुआ ? आप रो रहे हैं ?"

कालिदास पलभर चुप रहे, फिर कठोर होकर बोले, "नहीं-नहीं, ये झूठे आँसू हैं। इनमें पलभर की पीड़ा है। अभी उधर हटते ही आप सब कुछ भूल जाएँगे। मेरा दुख पलभर का नहीं है। सारी मानव-जाति के लिए मेरा हृदय रोता रहता है। इस बात को जो समझ सकता है, इसे समझकर जो व्यक्ति इस भयानक रक्तपात को रोक सकता है, उसी से मिलने के लिए मैं एक बार पाटलिपुत्र जाना चाहता था।"

कुछ देर के लिए चुप होकर कालिदास एकटक बड़ी दूर पता नहीं कहाँ देखते रहे। फिर दृढ़ स्वर में बोले, "जाऊँगा, एक बार जाकर उनसे मिलूँगा अवश्य !"

"किससे ? कौन है वह व्यक्ति, कालिदास ?"

कालिदास धीरे से हँसे, "उन्हें कौन नहीं जानता ? मैंने सुना है, उनका हृदय मक्खन की तरह कोमल है। उनका मन समुद्र की तरह उदार है। मैंने उनकी कविताएँ सुनी हैं। उनमें रस बहता है ··फिर भी "

"कविताएँ ?" हरिषेण ने आश्चर्य से पूछा, "पाटलिपुत्र का कौन-सा कवि ऐसा है ? स्वयं सम्राट् कविराज हैं। उन्हें छोड़कर कौन ऐसा शक्तिशाली कवि है, जो यह सब रोक सके ? कौन है वह ? तुम किससे मिलना चाहते हो, कालिदास ?"

"उन्हें कौन नहीं जानता !" कालिदास ने हँसकर दुहराया, "उनका प्रताप भी सभी जानते हैं···आप भी जानते होंगे। आर्य

कहा, "उनके धनुष की टंकार से दसों दिशाएँ काँपती हैं। उनके फरसे से पता नहीं कितने निर्दोषों का लाल गरम लहू टपकता है। उनके एक इशारे पर कितनी ही सुहागिनों का सिन्दूर धुल जाता है। उनके भय से धरती डगमग-डगमग होती रहती है; वही सम्राट् न !"

दो डग और हटकर कालिदास फिर बैठ गए। वह मुँह फेर-कर इस प्रकार सरोवर की लहरों पर चाँदी की तरह झिलमिल करता फेन देखने लगे, जैसे आस-पास कोई और है ही नहीं।

हरिषेण चकित हो गए। विचित्र है यह युवक ! आज धरती पर पहली बार उनको ऐसी बातें सुनने को मिली थीं। कालिदास ने जो कुछ कहा है, उसे वह स्वय भी मानते है। पर उनके स्वर में जो अपमान है, घृणा है, हरिषेण ने उसे पहली बार अनुभव किया था। इस युवक के कण्ठ का स्वर अभी-अभी अमृत के समान मधुर लग रहा था। पर इस समय उसी स्वर से जैसे पिघले हुए अंगारे वहकर हरिषेण के रक्त में मिल गए। उनका शरीर दहकने लगा। आँखों से चिनगारियाँ बरस पड़ी। भौहें खिंच गई। क्रोध के मारे वह एक शब्द भी न बोल सके। पत्थर की तरह खड़े रह गए।

एकाएक कालिदास ने कहा, "सुनकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ था। एक बार पाटलिपुत्र जाने की बड़ी लालसा थी। पर आप तो व्यापारी निकले। रत्नों का ही व्यापार करते तो ठीक था ; आप तो मनुष्यों का भी व्यापार करते हैं। आपके सम्राट् क्या हर व्यक्ति को दास समझकर खरीदते है ?"

"कालिदास !" महामात्य ने धीर-गम्भीर स्वर से उन्हें रोका, "तुम सम्राट् का अपमान कर रहे हो।"

"मैं किसी का अपमान नहीं कर रहा हूँ। जो सच है, वही कह रहा हूँ।"

हरिषेण के पास पहुँचकर उनका हाथ पकड़ते हुए कालिदास ने कहा, "आप मेरी बात को समझ नहीं सकते। आप नहीं समझेंगे। मैंने अपनी आँखों से वह सब देखा है···किसी का सिर नही, किसी का हाथ कटा है, कही किसी माँ की देह खून में डूबी पड़ी है और छोटा-सा बच्चा आग की लपटों में झुलसकर उसकी छाती पर बिलख रहा है···क्यों, क्या हुआ ? आप रो रहे हैं ?"

कालिदास पलभर चुप रहे, फिर कठोर होकर बोले, "नहीं-नही, ये झूठे आँसू है। इनमें पलभर की पीड़ा है। अभी उधर हटते ही आप सब कुछ भूल जाएँगे। मेरा दुख पलभर का नही है। सारी मानव-जाति के लिए मेरा हृदय रोता रहता है। इस बात को जो समझ सकता है, इसे समझकर जो व्यक्ति इस भयानक रक्तपात को रोक सकता है, उसी से मिलने के लिए मैं एक बार पाटलिपुत्र जाना चाहता था।"

कुछ देर के लिए चुप होकर कालिदास एकटक बड़ी दूर पता नहीं कहाँ देखते रहे। फिर दृढ स्वर में बोले, "जाऊँगा, एक बार जाकर उनसे मिलूँगा अवश्य !"

"किससे ? कौन है वह व्यक्ति, कालिदास ?"

कालिदास धीरे से हँसे, "उन्हें कौन नहीं जानता ? मैंने सुना है, उनका हृदय मक्खन की तरह कोमल है। उनका मन समुद्र की तरह उदार है। मैंने उनकी कविताएँ सुनी हैं। उनमें रस बहता है··फिर भी "

"कविताएँ ?" हरिषेण ने आश्चर्य से पूछा, "पाटलिपुत्र का कौन-सा कवि ऐसा है ? स्वयं सम्राट् कविराज हैं। उन्हें छोड़कर कौन ऐसा शक्तिशाली कवि है, जो यह सब रोक सके ? कौन है वह ? तुम किससे मिलना चाहते हो, कालिदास ?"

"उन्हें कौन नही जानता !" कालिदास ने हँसकर दुहराया, "उनका प्रताप भी सभी जानते हैं···आप भी जानते होंगे। आर्य

हरिषेण को कौन नहीं जानता ?"

"ह-रि-षे-ण !" अमात्य हरिषेण के सँभालते-सँभालते भी लम्बी साँस छूट गई। वह चकित, पथराए-से खड़े रहे। धरती पर एक युवक, अंगारों और मक्खन से बना युवक, कालिदास उनसे मिलने के लिए इतना आतुर है। इतना गुणी, इतना योग्य ! जिसकी वाणी पर जैसे स्वयं देवि सरस्वती का वास है। जिसके स्वर से संगीत रस की तरह झरता है !

उन्होंने अपने को सँभाला। कालिदास उनके ठीक सामने खड़े जैसे मन-ही-मन किसी अमात्य हरिषेण की कल्पना कर रहे थे। वह मन-ही-मन हँसे ; बोले, "उसकी बात कर रहे हो, कालिदास, पर वह कवि कैसा है। छिः ! इतने महान् सम्राट् का तुम तिरस्कार करते हो, और उस व्यक्ति की पूजा करते हो जो चारणों की तरह अपने राजा की स्तुति करता है।"

"यही तो !" कालिदास ने उत्साह से कहा, "मैं यही तो उनसे पूछना चाहता हूँ, आर्य ! इतना महान व्यक्ति राजा का चारण क्यों है ? वह चाहें तो उनके गीतों से कितने ही रोते हुए हृदय खिल उठें। वह चाहें तो विजय के लोभ में अन्धे राजा खून बहाना छोड़कर प्रजा का हित करें। कवि ने यदि अपने-आप को राजा के हाथों वेच भी दिया है तो अपने अधिकार का लाभ क्यों नहीं उठाते ?"

"कैसा लाभ ?"

"धरती पर सुख और शान्ति लाने के लिए वह क्या नहीं कर सकते ! राजा उनका सम्मान करते हैं, उनकी बात मानते हैं। वह जो चाहें, करें।"

"हाः-हा···हा···हा !" आर्य हरिषेण जोर से हँस पड़े, "तुम कितने भोले-भाले हो, कालिदास! तुम सोचते हो कि अपने-आप को बेचकर सम्राट् की कृपा पाने वाले आर्य हरिषेण यहाँ-

वहाँ ठोकरें खाते फिरें। तुम्हारी तरह भटकें। वह अपने लिए धन-वैभव जुटाकर आनन्द क्यों न करें ? सम्राट् से इतना बड़ा पद मिला है। उन्हें भला प्रजा की क्या चिन्ता! सम्राट् की सेवा करते हैं, उनका गीत गाते हैं और स्वर्ग जैसा सुख पाते हैं। और क्या चाहिए उन्हें ?"

"छि: !" कालिदास ने सिर हिलाकर कहा, "तुम नहीं समझोगे ··नहीं। तुम्हारे लिए धन ही सब कुछ है। तुम उसे समझ ही नहीं सकते। जब सारे संसार की पीड़ा मन में भर जाती है, तब कविता का जन्म होता है। इसे व्यापारी नहीं समझ सकता। कवि के मन की बात·· आर्य हरिषेण कवि हैं !"

"सम्राट् भी तो कविराज हैं, कालिदास !"

"नहीं हैं !" कालिदास ने कठोर होकर कहा, "जो भी कवि होगा, वह मनुष्य से घृणा नहीं कर सकता। उसका खून बहाने की आज्ञा नहीं दे सकता। वह तो बस, मनुष्य को प्यार-भर कर सकता है। और सम्राट् ··हुं:, उनके खड्ग से तो अब भी खून टपकता रहता है।"

क्षणभर चुप्पी छाई रही। आर्य हरिषेण ने कुछ सोचकर कहा, "तो चलो। अपने कवि हरिषेण से ही मिल लेना।"

"नही !" कालिदास ने पीछे हटते हुए कहा, "तुम्हारे साथ नहीं, तुम मुझे बेच दोगे। मैं अकेला ही जाऊँगा। अकेला ही, भटकते-भटकते पहुँच ही जाऊँगा···"

सहसा फिर आहट सुनाई पड़ी। हरिषेण ने ध्यान से पच्छिम की ओर देखा, फिर बोले, "चाहो तो मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ, आर्य हरिषेण आजकल "

"नहीं-नहीं। मुझे तुम्हारी सहायता नहीं चाहिए।"

कालिदास एकाएक विरक्त होकर पूर्व की ओर बढ़ चला। हरिषेण उसी ओर देखते हुए चुप खड़े रहे।

हरिषेण को कौन नहीं जानता ?"

"ह-रि-षे-ण !" अमात्य हरिषेण के सँभालते-सँभालते भी लम्बी साँस छूट गई। वह चकित, पथराए-से खड़े रहे। धरती पर एक युवक, अंगारों और मक्खन से बना युवक, कालिदास उनसे मिलने के लिए इतना आतुर है। इतना गुणी, इतना योग्य ! जिसकी वाणी पर जैसे स्वयं देवि सरस्वती का वास है। जिसके स्वर से संगीत रस की तरह झरता है !

उन्होंने अपने को सँभाला। कालिदास उनके ठीक सामने खड़े जैसे मन-ही-मन किसी अमात्य हरिषेण की कल्पना कर रहे थे। वह मन-ही-मन हँसे ; बोले, "उसकी बात कर रहे हो, कालिदास, पर वह कवि कैसा है। छिः ! इतने महान् सम्राट् का तुम तिरस्कार करते हो, और उस व्यक्ति की पूजा करते हो जो चारणों की तरह अपने राजा की स्तुति करता है।"

"यही तो !" कालिदास ने उत्साह से कहा, "मैं यही तो उनसे पूछना चाहता हूँ, आर्य ! इतना महान व्यक्ति राजा का चारण क्यों है ? वह चाहें तो उनके गीतों से कितने ही रोते हुए हृदय खिल उठें। वह चाहें तो विजय के लोभ में अन्धे राजा खून बहाना छोड़कर प्रजा का हित करें। कवि ने यदि अपने-आप को राजा के हाथों बेच भी दिया है तो अपने अधिकार का लाभ क्यों नहीं उठाते ?"

"कैसा लाभ ?"

"धरती पर सुख और शान्ति लाने के लिए वह क्या नहीं कर सकते ! राजा उनका सम्मान करते हैं, उनकी बात मानते हैं। वह जो चाहें, करें।"

"हा-हा···हा···हा !" आर्य हरिषेण जोर से हँस पड़े, "तुम कितने भोले-भाले हो, कालिदास! तुम सोचते हो कि अपने-आप को बेचकर सम्राट् की कृपा पाने वाले आर्य हरिषेण यहाँ-

वहाँ ठोकरें खाते फिरें। तुम्हारी तरह भटकें। वह अपने लिए वन-वैभव जुटाकर आनन्द क्यों न करें ? सम्राट् से इतना बड़ा पद मिला है। उन्हें भला प्रजा की क्या चिन्ता! सम्राट् की सेवा करते हैं, उनका गीत गाते हैं और स्वर्ग जैसा सुख पाते हैं। और क्या चाहिए उन्हें ?"

"छिः !" कालिदास ने सिर हिलाकर कहा, "तुम नहीं समझोगे ··नहीं। तुम्हारे लिए वन ही सब कुछ है। तुम उसे समझ ही नहीं सकते। जब सारे संसार की पीड़ा मन में भर जाती है, तब कविता का जन्म होता है। इसे व्यापारी नहीं समझ सकता। कवि के मन की बात·· आर्य हरिषेण कवि हैं !"

"सम्राट् भी तो कविराज हैं, कालिदास !"

"नहीं हैं !" कालिदास ने कठोर होकर कहा, "जो भी कवि होगा, वह मनुष्य से घृणा नहीं कर सकता। उसका खून बहाने की आज्ञा नहीं दे सकता। वह तो बस, मनुष्य को प्यार-भर कर सकता है। और सम्राट् ··हुँः, उनके खड्ग से तो अब भी खून टपकता रहता है।"

क्षणभर चुप्पी छाई रही। आर्य हरिषेण ने कुछ सोचकर कहा, "तो चलो। अपने कवि हरिषेण से ही मिल लेना।"

"नहीं !" कालिदास ने पीछे हटते हुए कहा, "तुम्हारे साथ नहीं, तुम मुझे बेच दोगे। मैं अकेला ही जाऊँगा। अकेला ही, भटकते-भटकते पहुँच ही जाऊँगा ··"

सहसा फिर आहट सुनाई पड़ी। हरिषेण ने ध्यान से पच्छिम की ओर देखा, फिर बोले, "चाहो तो मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ, आर्य हरिषेण आजकल ··"

"नहीं-नहीं। मुझे तुम्हारी सहायता नहीं चाहिए।"

कालिदास एकाएक विरक्त होकर पूर्व की ओर बढ़ चला. हरिषेण उसी ओर देखते हुए चुप खड़े रहे।

"देव की जय हो !"

मुड़कर हरिषेण ने पूछा, "क्या है, कंथक ?"

"तैयारी हो चुकी है, आर्य !"

"अच्छा ! मैं आता हूँ।"

पलभर रुककर उन्होंने कहा, "सुनो, उस युवक को देख रहे हो ?"

"हाँ, देव !"

"उसके साथ जाओ। बिना परिचय दिए उसकी सहायता करो। और हो सके तो उसे पाटलिपुत्र ले जाओ। जाओ, जल्दी करो !"

कंथक तेजी से मन्दिर के परकोटे की ओर बढ़ा। थोड़ी देर तक खड़े हरिषेण उनकी परछाइयों जैसी आकृतियों को देखते रहे, फिर धीरे से हँसकर लौट पड़े।

तीन

नदी में स्नान करके कालिदास ने सूर्य देवता की वन्दना की, फिर एकान्त में बैठकर चारों ओर फैली सुनहरी माया का रूप पीने लगे। थोड़ी ही दूर पर मछेरे जाल डालकर मछली पकड़ रहे थे। उनके चेहरों पर कभी कालिदास ने उषा की तरह दमकती हुई हँसी देखी थी, पर इस समय उन्हें लगा कि उनके चेहरों पर उदासी है ; भूख का पीलापन है। कभी मछली पकड़ते समय वहाँ हँसी और कलरव गूँजते थे, आज चुप्पी है।

मन नहीं लगा। वहाँ से उठकर कालिदास दूसरे घाटों की ओर चल पड़े। शायद वहाँ उस उदासी से पीछा छूटे · शायद छूट जाए। आज कितने दिनों से कालिदास का मन उदासी-ही-उदासी पाकर बेचैन हो उठा है। महाकाल की इस महानगरी उज्जयिनी में भी उनका जी नहीं लगता। सारी धरती पर क्या दुख-ही-दुख है ? भूख की यह पीड़ा, प्रजा का यह सन्ताप क्या पाटलिपुत्र के सम्राट् को भी मालूम है ? उनके कानों तक यह बात पहुँच पाती होगी ? क्या आर्य हरिषेण भी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते...

सहसा किसी की चीख सुनाई पड़ी · हाँ, कोई स्त्री चिल्ला रही है। कालिदास चौकन्ने हो गए। टीले के उस ओर घने झुरमुट है। उसी ओर से कोई स्त्री चीख रही है, "बचाओ !... रक्षा करो !...आ ऽ ऽ ह !"

कालिदास बाघ की तरह उछले और पलक झपकते टीले पर चढ़कर उस ओर कूद पड़े। सामने कितनी ही कँटीली झाड़ियाँ थी। कोई पगडंडी भी नहीं

"बचा ऽऽ ओ !"

बिना कोई चिन्ता किए कालिदास कँटीली झाड़ियों और तीखी नुकीली जंगली घास को रौंदते हुए बढ़ चले। कपड़े नुच-चुथ गए। शरीर लहूलुहान हो उठा, पर उसकी सुध किसे थी ! बीच में एक ऊँची पथरीली दीवार थी। इसके उस पार से अब छीना-झपटी और स्त्री के चीखने की आवाज स्पष्ट सुनाई पड़ रही थी। घायल, लहू-लुहान कालिदास दीवार के ऊबड़-खाबड़ पत्थरों का सहारा लेकर किसी प्रकार ऊपर चढ़े और दूसरी ओर कूद पड़े। एक बहुत पुराने मन्दिर के खंडहर दिखाई पड़े। भूल-भुलैयाँ जैसी भटकाने वाली गलियों में दौड़ते-भागते अन्ततः कालिदास घटना-स्थान पर पहुँच ही गए।

सामने एक युवती को दो व्यक्तियों ने जकड़ रखा है। युवती का एक पैर पास ही काठ पर पड़ा है और तीसरा व्यक्ति एक फरसा लेकर उसे काटने की तैयारी कर रहा है···दूसरे ही पल उसका सिर पर तना हुआ परशु गिरेगा और युवती का पैर··· कालिदास बाघ की तरह झपटे और···

पता नहीं कब क्या हुआ। परशु गिरा अवश्य पर युवती का पैर जैसा-का-तैसा रहा, हाँ, हत्यारे के ही एक साथी की बाईं बाँह कंधे से कटकर गिर पड़ी। परशु छटककर दूर जा गिरा था और परशु चलाने वाले व्यक्ति का सिर दीवार से टकराकर शायद फट गया। वह अचेत होकर लुढ़क गया।

तीसरा व्यक्ति सँभल गया। उसने झपटकर परशु उठा लिया। उसकी लाल आँखों से जैसे खून टपक रहा हो। वह परशु तानकर कालिदास पर टूट पड़ा। कोने में फँसे पड़े

कालिदास की आँखों के सामने मौत नाच उठी। बस, बचने का कोई मार्ग नहीं। उन्होंने आँखें मींच लीं। पर कई क्षण बीत गए, कुछ भी न हुआ। उन्होंने आँखें फाड़ दीं। यह कौन है?

परशु थोड़ी ही दूर पर पड़ा है और दो व्यक्ति गुत्थमगुत्था होकर धीरे-धीरे परशु की ओर बढ़ रहे हैं। घिसट रहे हैं। उनमें से एक वही डाकू है, पर यह दूसरा व्यक्ति? यह कौन है?

एक बार दोनों पलटे और एक-दूसरे को तेजी से पलटते हुए फरसे के पास पहुँच गए। डाकू का बायाँ हाथ परशु की मूठ पर पड़ा। कालिदास जैसे सहसा चेत में आ गए। उन्होंने झपटकर परशु छीन लिया और सिर तक तानकर बोले, "सावधान!"

निराश होकर डाकू ने हाथ-पाँव ढीले छोड़ दिए।

दूसरा व्यक्ति उठा। उसने अचेत पड़े डाकू के पास पड़ा कपड़ा उठाकर परास्त शत्रु के हाथ-पाँव जकड़ दिए। फिर हाँफते-हाँफते ही हँसकर बोला, "बड़े साहसी हो, कवि! हाथ में एक छोटी-सी छुरी भी नहीं और डाकुओं पर टूट पड़े!"

कालिदास सहसा ही उसे पहचान गए, "अरे, तुम हो, कुंथक? यहाँ कैसे?"

कंथक मुस्करा पड़ा, "जैसे कल हाट में पहुँच गया था।"

कल रात में कंथक ने कालिदास को लगभग जबरदस्ती ही भोजन कराया था। कितनी मीठी बातें कर रहा था! कहता तो था कि वह नर्तक है। नाटकों में अभिनय करता है, पर तब कौन सोच सकता था कि वह इतना कुशल योद्धा भी है। हँसकर कालिदास ने प्रशंसा की, "तुम तो बहुत-कुछ जानते हो! इतने लम्बे-तड़ंगे डाकू से इस प्रकार लड़ रहे थे, जैसे कोई कुशल पहलवान हो!"

"नटों को क्या नहीं आता ! मुझे मल्ल-युद्ध भी तो सिखाया गया है। कभी-कभी नाटकों में मल्ल-युद्ध भी दिखाना पड़ता है..."

कालिदास एक दृष्टि परास्त, घायल पड़े डाकुओं पर डालकर युवती के पास जा खड़े हुए। वह अब भी काँप रही थी। भय के कारण साँस तेजी से चल रही थी। सारी देह पसीने से भीग गई थी। बड़ी-बड़ी आँखों से भय झाँक रहा था। कालिदास को देखते ही उपकार के बोझ से उसका माथा झुक गया। प्रणाम करके वह एक ओर खड़ी हो गई।

"देवि, अब मत डरो। कौन हो तुम ?"

"मालिनी।"

"क्या करती हो ?"

"नदी के उस पार अपने गाँव में माँ के साथ रहती हूँ। माँ फूल बेचती है। उसीसे किसी तरह पेट पालते हैं हम लोग।"

कालिदास अपलक उसे देखने लगे।

मालिनी के भोले ढंग से दिए गए परिचय पर हँसकर कंथक बोला, "तू इन दुष्टों के जाल में कैसे पड़ गई, बहन ?"

"माँ से लड़कर इस बार मन्दिर में महाकाल के दर्शन करने आई थी। वह नीच मेरे गाँव में एक बार अतिथि बनकर आया था और मेरे यहाँ ही रहा। आज मन्दिर में अचानक भेंट हो गई। बोला—'चलो, वहाँ गाँव में तुम्हारा पेट भी तो नहीं भरता। फूल बेचने से मिलता ही क्या है। यहाँ, एक सेठ के यहाँ तुझे शृंगार करने के लिए दासी रखवा दूँ।' सोचती थी कि तब बूढ़ी माँ को भी यहीं लाऊँगी। वहाँ वह मेरा पेट भरने के कारण कितनी ही रातें भूखी ही सोकर काटती है...मिलता ही क्या है ?"

उसने रुक-रुककर लम्बी साँस ली। कालिदास का चेहरा

फिर उदास हो गया। सब कहीं दुख है, उदासी है और भूख है। बस !

"फिर ?" कंथक ने कहानी की टूटी हुई कड़ी जोड़ने के लिए मालिनी से कहा।

"फिर क्या ? मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि महाकाल के आँगन में ऐसे पापी भी जीवित खड़े हो सकते हैं। यह मुझे साथ-साथ यहाँ लाया। माँ ने चाँदी की एक मुद्रा दी थी, उसे ले लिया। और कुछ तो था नहीं। पैरों में पता नहीं कब से यह चाँदी का गहना पड़ा है। किसी भी तरह नहीं उतरा तो उन्होंने कहा, पैर काट दो। अब तक डर के मारे चुप थी, पर···"

कंथक ने बँधे पड़े डाकू को दो लात जमाकर कहा, "नीच ! हत्यारे! इतनी-सी चाँदी के लिए तू इसका पाँव काट रहा था ?"

डाकू दर्दभरी हँसी के साथ बोला, "तू मेरी स्थिति में होता तो समझता। जब तेरी आँखों के सामने भूख से कीड़े की तरह बिलबिलाते बच्चे होते, उनके बिलखने से तेरे कान फटते; तब ''

"महाकाल तेरा नाश करें !" कंथक ने उसके मुँह पर थूक दिया।

कालिदास ने सिर हिलाकर प्यार से उसकी ओर देखा; बोले, "नहीं कंथक, महाकाल कुछ भी नहीं करेंगे। जिस धरती का राजा अपनी प्रजा को भूल जाता है, उस धरती के देवता भी तो भूखे मरते है। महाकाल भी उस पर कोप करते है। इस धरती की प्रजा भूखों मर रही है और राजा सुख भोगता है···"

"कालिदास !" कंथक गरज उठा, फिर तुरन्त ही अपने को सँभालकर बोला, "ऐसा मत कहो, कवि ! सम्राट् महान हैं। उनका दण्ड प्रबल है। राजा से डरो, कवि !"

"डरूँ? किसके लिए? प्राण के लिए? राजा प्राण ले लेगा? यही न? लेकिन प्राण राजा नहीं भी ले तो भूख ले लेगी, फिर क्यों डरूँ? राजा भूख से मेरे प्राण बचाएगा?"

कंथक गले में अटका थूक निगलकर चुप रह गया।

कालिदास ने मालिनी से कहा, "चलो देवि, चलो, तुम्हें पहुँचा दूँ।"

नदी के तट पर पहुँचकर कंथक को जैसे कुछ याद आया; बोला, "तुम्हारे साथ मैं भी चलता, पर..."

मालिनी बोली, "नहीं-नहीं, तुम्हें चलना ही पड़ेगा, भैया! माँ तुम दोनों से मिलकर कितना प्रसन्न होगी। तुमने मेरी रक्षा की है...फिर अपने मन से चले आने के कारण माँ मुझसे रूठ बैठेगी। तुम चलोगे तो कुछ बोलेगी नहीं।"

कंथक क्षणभर सोचता रहा, फिर बोला, "अच्छा, तुम दोनों यहीं रहना। मैं अभी आता हूँ।"

घाट के पास ही कालिदास बैठ गए। थोड़ी ही दूर पर मालिनी बैठ गई। दोनों छोटी-छोटी बातें करने लगे। धीरे-धीरे मालिनी ने अपने परिवार के बारे में सब-कुछ बता दिया। गाँव वालों के रूठ जाने के कारण उन्हें छोटा-सा झोंपड़ा बनाकर गाँव के छोर पर रहना पड़ता है। मालिनी का मामा ही ग्रामणी है, पर वह भूलकर भी उनकी ओर नहीं झाँकता। माँ रोगिणी है। चिन्ता के कारण उसकी देह टूटती ही जा रही है...

एक लम्बी साँस खींचकर मालिनी ने कहा, "कोई सहारा नहीं, कोई आधार नहीं। पता नहीं क्या होगा।"

उसका गला भर आया। आँचल से आँखें पोंछकर वह दूसरी ओर देखने लगी।

देर तक चुप्पी छाई रही। समय बीतता जा रहा था। दिन

ढल गया, पर कंथक नहीं लौटा।

कालिदास उदास हो उठे; बोले, "विचित्र है यह कंथक। कल सहसा मिला था। पर मुझे लगा, मानो जन्म-जन्म का साथी हो। पता नहीं, शायद ऊबकर हमें छोड़ गया..."

"साँझ होने ही वाली है।" निराशाभरे स्वर में मालिनी बोली।

सचमुच पश्चिम में आकाश धीरे-धीरे लाल पड़ने लगा था। तब कालिदास उठ पड़े; बोले, "चलो, मैं अकेला ही तुम्हें छोड़ आऊँ।"

मालिनी रुआँसी हो उठी, पर और कोई चारा नहीं था। इसलिए वह भी उठ खड़ी हुई। दोनों नदी के उस पार जाने के लिए नाव पर बैठ गए।

नाव चल पड़ी तब भी दोनों की आँखें नगर से आने वाले रास्ते पर टिकी रहीं। आखिर कंथक गया कहाँ?

चार

"कंथक ? तू ? बहुत दिन बाद आया !" आर्य हरिषेण ने भीतर आकर आसन पर बैठते हुए कहा।

कंथक ने प्रणाम करके कहा, "आपकी आज्ञा से कवि के साथ-साथ भटकता रहा, आर्य !"

"कहाँ है कालिदास ? ले आया ?" हरिषेण उत्साह से खड़े हो गए।

सिर झुकाकर कंथक ने कहा, "नहीं ला सका, देव ! वह विचित्र हैं। मेरे सारे उपाय व्यर्थ गए। आज डेढ़ मास बीत गया, पर मैं सफल नहीं हो सका।"

हरिषेण ने चिन्तित होकर पूछा, "अब कहाँ है वह ? कहाँ छोड़ा उसे ?"

"मालिनी के गाँव में हैं, आर्य !"

"मालिनी ?" हरिषेण ने क्षणभर सोचकर कहा, "ओह ! वही युवती, जिसकी तुम दोनों ने रक्षा की थी। तेरा संवाद मिला था मुझे।"

कंथक चुप खड़ा रहा।

हरिषेण ने पूछा, "पर वह कर क्या रहा है वहाँ ? उसे पाटलिपुत्र आना ही चाहिए, कंथक ! उसका स्थान और कहीं नहीं। उसे यहाँ लाना ही होगा।"

कंथक ने विनय के साथ डरते-डरते कहा, "बहुत कठिन है, आर्य ! अब तो असम्भव-सा है।"

"असम्भव ?" हरिषेण की भौंहें चढ़ गईं, "क्या कहता है तू ?"

"देव, अब उन पर मालिनी का बन्धन पड़ चुका है। अब तक वह भटकते रहे, पर अब जैसे मालिनी ही उनकी साधना बन गई है। कविता कहाँ ? उन्हें देखकर अचरज होगा, आर्य ! मालिनी और उसकी बूढ़ी माँ के पालन-पोषण के लिए कालिदास अब कुल्हाड़ी लेकर लकड़हारों की तरह लकड़ियाँ काटते-बेचते हैं, गाँव के पशुओं को चराया करते हैं। उन्हें देखकर कौन कहेगा कि वह कवि हैं ··"

क्षणभर रुककर कंथक ने डरते-डरते बताया, "गाँव के सारे युवक उन्हें दास और मूर्ख कहा करते है।"

"कंथक !" आर्य हरिषेण का स्वर कठोर हो गया।

कंथक सिर झुकाए खड़ा रहा।

हरिषेण सँभल गए। इसमें बेचारे कंथक का अपराध ही क्या है ! वह चर है और चर का कर्त्तव्य है, सब-कुछ ठीक-ठीक सूचित करना। पर कालिदास · उसके भीतर का अंगार क्या बस, इसी तरह धीरे-धीरे ठंडा हो जाने के लिए है ? क्या उसके ऊपर मालिनी और उसका परिवार राख की तरह छा जाएगा ? कालिदास क्या सचमुच बुझकर समय के साथ-साथ राख की तरह उड़ जाएगा ?

"तू जा !"

कथक चला गया। अमात्य हरिषेण थके-थके से आसन पर उटँगकर बैठ गए। लगा, जैसे आशा की एक चिनगारी थी, वह भी धीरे-धीरे बुझ रही है।

महादेवी का सन्देश पाकर जब से वह लौटे हैं, तब से एक क्षण का भी अवकाश नहीं मिला। पलभर भी वह शान्त होकर नहीं बैठ सके। चारों ओर संकट-ही-संकट छाया हुआ है। कोई सपने में भी नहीं सोच सकता था कि मगध जैसे शक्तिशाली राज्य पर इस प्रकार की विपत्ति आ सकती है। जिस देश

राजा समुद्रगुप्त के पराक्रम से धरती काँपती थी, उसकी आज यह दशा हो रही है ! जब अपने घर ही फूट पड़ जाए तो क्या नहीं हो सकता !

दिशाओं पर विजय प्राप्त करने वाले सम्राट् समुद्रगुप्त की उम्र अब ज्यादा हो गई है। ऊपर से अब वह स्वस्थ भी नही रहते। पर इससे कुछ भी नहीं बिगड़ता था। मन्त्री वही थे, सेनापति तथा अन्य अधिकारी भी वही थे, सब-कुछ ठीक चलता रहता। पर आज घर में फूट पड़ चुकी है।

सम्राट् राजपुत्र रामगुप्त से प्रसन्न नहीं रहते। वह मन से चन्द्रगुप्त को ही युवराज बनाना चाहते थे। और सचमुच इतने बड़े राज्य का भार उठाने योग्य भी वही हैं। प्रजा उनको प्यार करती है। वह प्रजा से स्नेह करते है। उसका दुख-सुख समझते हैं। पर राजकुमार रामगुप्त बड़े हैं। वह राज्य पर अपना अधिकार समझते हैं। प्रजा जिए या मरे, राज्य रहे या जाए, देश का कुछ भी हो, राजा तो वही बनेंगे। उन्हें अपने सुख से मतलब है।

राजकुमार रामगुप्त ने अभी से उपाय रचना आरम्भ कर दिया है। उनका साथ देने वाले चापलूसों की भी कमी नहीं है। प्रधान अमात्य शिखर स्वामी उनके साथ हैं। और भी कुछ अधिकारी उनका पक्ष लेते हैं। कई सामन्त और राजकुमार भी उनके ही पक्ष में हैं। नगरसेठ धनदत्त भी उन्हीं का समर्थन करते हैं। इन सबको अपने पद और अपने सुख की पड़ी है। देश और प्रजा की इन्हें कोई चिन्ता नहीं। वे जानते हैं कि राजकुमार चन्द्रगुप्त का स्वभाव कुछ और है। उनके राजा बनने पर इन लोगों का हित नहीं होगा।

दूसरी ओर राज्य में जगह-जगह विद्रोह हो रहे हैं। कभी कलिंग सिर उठाता है तो कभी विदर्भ। कभी जंगली प्रान्तों के आटविक सामन्त राजा चुपचाप कर भेजना बन्द करके अपने

रास्ते से चलने वाले यात्रियों और व्यापारियों से कर वसूल करने लगते हैं।

कैसे क्या होगा, कुछ समझ में नहीं आता। हरिषेण चिन्ता के कारण दिनोंदिन दुर्बल होते जा रहे हैं। महादेवी को भी इन सबकी ओर ध्यान देने का अवसर नहीं। वह सम्राट् के रोग की चिन्ता से ही स्वयं भी बहुत दुखी रहती हैं। क्या होगा…

"आर्य की जय हो !" एक द्वारपाल ने घबराए हुए भीतर आकर सूचना दी, "युवराज रामगुप्त ने आपको…"

"सादर ले आओ।" हरिषेण आसन से उठते हुए बोले।

द्वारपाल ने हिचकिचाकर कहा, "आए नहीं हैं, प्रभो ! उन्होंने आर्य को तुरन्त अपने उपवन में बुलवाया है।"

"उपवन में ? मुझे बुलवाया है ?" हरिषेण के माथे पर बल पड़ गए। ऐसा तो कभी नहीं हुआ। महादेवी और सम्राट् के अलावा आज तक कोई उनसे मिलना चाहता था तो बुलाने की जगह स्वयं आकर मिलता था। प्रधान अमात्य शिखरस्वामी भी अपने-आप आते थे। राजकुमार को ऐसे अनादर की बात क्यों सूझी ? इस वंश में यह कैसी भावना आ रही है ?

द्वारपाल अब तक घबराया-सा खड़ा था। इस अनहोनी घटना के कारण ही शायद वह भी डर गया था। हरिषेण को यह अपमान और भी खल गया। फिर भी उन्होंने शान्ति से मुस्कराकर कहा, "मैं सेवा में पहुँचता हूँ। दूत से कहला दे। हाँ, सारथी को मेरा रथ भी लाने की आज्ञा दे।"
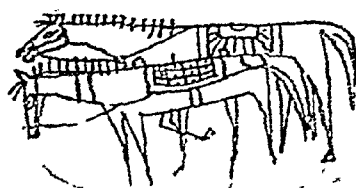
पाँच

इतनी सेवा करने के बाद भी माँ का प्राण नहीं बचाया जा सका। गाँव के छोटे-से वैद्य ने उतना रोने-गिड़गिड़ाने पर जो दवा दे दी, उसी का सहारा था। उसके भरोसे माँ की ज़िन्दगी बचाई नहीं जा सकी। मालिनी हताश होकर पागलों की तरह बेसुध बैठी रहती है, जैसे संसार में उसे करने के लिए कुछ बचा ही नहीं।

उसका दुख कालिदास जानते थे। यदि धन होता तो माँ इस तरह न मरती। उसे उज्जयिनी के किसी बड़े वैद्य की औषधि मिलती तो वह बच जाती। कालिदास स्वयं भी तो चेत खो बैठे थे। माँ के मरने के तीन-चार दिन बाद उन्हें सुध आई। कई बार सोचा कि मालिनी से कुछ खाने-पीने को कहें, पर साहस नहीं हुआ। कहते भी क्या! घर में एक दाना भी तो नहीं था। और भूख की कोई औषधि भी तो नहीं होती!

वह कुल्हाड़ी उठाकर जंगल की ओर चले गए थे। एक सूखा-सा पेड़ देखकर वह लकड़ी काटने बैठ गए। खट्-खट् खट्-खट्। भूख और चिन्ता से वह व्याकुल थे। सारी देह टूट रही थी। निर्बलता के कारण हाथ उठाना भी कठिन था। सिर पीड़ा के कारण फटा जा रहा था। पर यदि आज कुछ कमाएँगे नहीं तो फिर दोनों को भूखों रात काटनी पड़ेगी। मालिनी का मुरझाया चेहरा आँखों के आगे नाच जाता था।

खट्···खट्···खट्···खट्···

हारे-थके कालिदास लकड़ी काटते रहे।

अचानक हँसी की तेज आवाज सुनकर वह चौंक पड़े। नीचे खड़े दो राही उन्हीं की ओर देख-देखकर हँस रहे थे। वेश-भूषा और रंग-ढंग से वे दोनों विद्वान् ब्राह्मण लगते थे। पर उन्हें हँसता देखकर कालिदास को घृणा हुई। दुख का आघात उन्हें असमर्थ बना चुका था। वह उधर से आँख हटाकर लकड़ी काटते रहे।

"इससे बढ़कर मूर्ख कहाँ मिलेगा !" एक ने कहा।

"जिस डाल पर बैठा है, उसी को काट रहा है।" दूसरा हँसकर बोला, "ग्रामणी के बेटे गोप ने ठीक ही कहा था। इसे किसी प्रकार ले चलें तो राजकुमारी प्रियंगुमंजरी से बदला चुक जाए।"

"चलो, गाँव चलें। वहीं तो आएगा न ! फिर देखेंगे। अभी तो भूख से पेट में पीड़ा उठने लगी है।"

दोनों चले गए। कालिदास पत्थर की तरह बैठे देखते रहे। सचमुच वह जिस डाल पर बैठे थे, उसी को जड़ की ओर से काट रहे थे। यह क्या है ? कैसे हो गया ? दुख और भूख की मार से उनके जैसा व्यक्ति भी ऐसा मूढ़ हो गया !

पर ये ब्राह्मण कौन हैं ? ग्रामणी का बेटा ही नहीं, सारे गाँव के युवक कालिदास को मूर्ख कहते हैं, पर वह कैसे समझाएँ कि वह मालिनी और उसकी माँ का दुख नहीं सह सकते ! उन्हें छोड़कर चले ही जाएँ तो उनका क्या होगा ? कौन उनकी रक्षा करेगा ? और अब तो अकेली ही रह गई है मालिनी।

यह राजकुमारी प्रियंगुमंजरी कौन है ? उसे मूर्खों से क्या करना है ? कालिदास बड़ी देर तक सोचते रहे, पर कुछ समझ नहीं पाए। सोचा, यह भी कोई सनकी राजकुमारी होगी। राजा-रानी को और करना ही क्या है ! समय बिताने के लिए उन्हें भाँति-भाँति के मनोरंजन चाहिएँ। कोई बौने विदूषक पालता है, कोई भयंकर पशुओं से मनुष्यों को लड़ाता है। कालिदास ने सुना था कि समुद्र के उस ओर उत्तर में यवन देश में राजा-रानी के

मनोरंजन के लिये बौने, कुबड़े और तरह-तरह के कुरूप व्यक्ति खरीदकर दास बनाए जाते हैं। ऐसे ही राजकुमारी प्रियंगुमंजरी को मूर्खों की भीड़ जुटाने की धुन समाई होगी।

लकड़ी काटकर कालिदास उसे कन्धे पर रखकर बेचने के लिए हाट की ओर चले। अचानक उन्होंने देखा कि ग्रामणी के द्वार पर वही दोनों ब्राह्मण बैठे हैं। वह चुपके से लौटने को हुए कि एक ने देख लिया। ग्रामणी के बेटे ने खड़े होकर बड़े प्यार से बुलाया, "अरे, कालिदास, सुन!"

उसकी नम्रता से कालिदास चकित रह गए। आज न उसने मूर्ख ही कहा था, न गर्दभपुत्र ही। चुपचाप चले जाने से भी नहीं बनता। दुष्ट पता नहीं, कौन-सा उत्पात करे; मालिनी को वैसे ही सताता रहता है। वह चुपचाप पास आ खड़े हुए।

ब्राह्मणों में से एक ने कहा, "तू हमारे साथ चलेगा?"

"नहीं।" कहकर कालिदास लौटने लगे।

पर गोप ने लपककर पकड़ लिया; बोला, "क्यों, भागता क्यों है? बैठ न! लकड़ी आज हमें ही दे जा। ओ दास, जा कालिदास के लिए एक द्रोणी भरकर जौ ले आ। और माँ से दही भी ले लेना। यह लकड़ी लेता जा··· बैठ, तू बैठ तो सही!" गोप ने कालिदास को खींचकर पास ही बैठा लिया।

कालिदास ने सन्तोष की साँस ली। इस कठिन धूप में बोझ लादकर भटकना नहीं पड़ा। इतनी लकड़ी के लिए द्रोणी भर जौ और दही ऊपर से! आश्चर्य है! पर आज गोप इतना उदार क्यों हो गया?

पास ही गोप का बाप ग्रामणी भी बैठा था। उसने कुछ आगे खिसककर कालिदास के कन्धे पर हाथ रख दिया; बोला, "तुझ पर मुझे बड़ी दया आती है, कालिदास!"

कालिदास आज पिता-पुत्र के व्यवहार पर चकित रह गया।

गोप के पिता ने कहा, "तू जान-बूझकर अपना जीवन व्यर्थ गँवा रहा है। जानता है, मैं मालिनी का मामा हूँ। पर मेरी बहन बड़ी दुष्ट थी। इसीसे उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा। तुझे जाल में फँसाकर वह लूट रही है। जब ज़रा पेट भरने लगेगा, तुझे भी ठुकरा देगी..."

छि: ! कालिदास का पेट ऐंठने लगा। दास ने जौ एक बाँस की टोकरी में लाकर रख दिया। कालिदास उठते हुए बोला, "मैं जाता हूँ। मालिनी भूखी होगी।"

ग्रामणी ने कहा, "मैं जानता हूँ, तू मानेगा नहीं। पर ये पण्डित लोग कहते हैं, तू बड़ा भाग्यशाली है। तुझे राजा होना चाहिए, पर तू भिखारी बना फिरता है। इसी से दया आती है।"

एक ब्राह्मण ने सिर हिलाते हुए कहा, "सच, इसके ऊँचे ललाट पर लिखा है, इसे तो राजा से भी बढ़कर आदर मिलना चाहिए..."

कालिदास चुप रहे। एक हाथ में जौ की टोकरी और दूसरे में दही से भरा मिट्टी का बर्तन उठाकर वह बोले, "जाता हूँ। मालिनी चार दिन से भूखी पड़ी है।"

'मालिनी अचेत पड़ी होगी। बेचारी !' कालिदास ने सोचा, 'थोड़ा-सा दही उसे किसी तरह खिलाकर फिर भोजन का प्रबन्ध करेंगे।' वह तेजी से कदम उठाने लगे।

छः
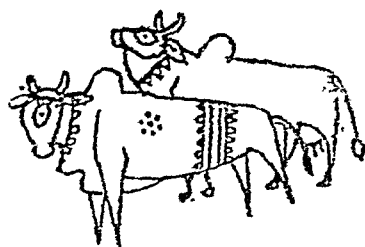
झोपड़ी के बाहर छोटी-सी फुलवारी थी। माँ के कहने पर कालिदास ने ही इसे गोड़कर फूलों के कुछ बीज डाल दिए थे। पर एक बार भी खिलने के पहले ही माँ चल बसी थी। वहीं कुंज के नीचे आज चार दिन से मालिनी बेसुध-सी पड़ी थी। पास पहुँचते ही उनका हृदय धक् से रह गया। मालिनी कहाँ गई?

फिर सोचा, शायद अपने-आप उठ गई। कुछ सन्तोष हुआ। शायद उन्हें कुल्हाड़ी लेकर जाते देखकर उसे भी कुछ प्रेरणा मिली हो। आखिर जीना तो पड़ेगा ही। इस तरह कब तक पड़ी रहती! शिला पर ही जौ और दही से भरा बरतन रखकर उन्होंने पुकारा, "मालिनी!...ओ मालिनी!"

कोई उत्तर नहीं मिला। वह मन-ही-मन डरे। धीरे-धीरे जाकर झोपड़ी में झाँककर देखा—नहीं, मालिनी वहाँ भी नहीं थी। वह यों ही चारों ओर देखने लगे। शायद नदी की ओर चली गई हो। कहीं-न-कहीं से आएगी ही।

बड़ी देर हो गई। वह शिला पर माथा पकड़कर बैठ गए। आस-पास कोई है भी तो नहीं। किससे पूछें?

"कालिदास!"

उन्होंने चौंककर सिर ऊपर उठाया। गोप खड़ा था।

"मालिनी चली गई, कालिदास!"

"चली गई? कहाँ?" कालिदास ने झपटकर उसके कन्धे पकड़ लिए, "कहाँ गई वह? तू जानता है।"

गोप ने धीरे से कहा, "नहीं। कोई नहीं जानता। वे लोग
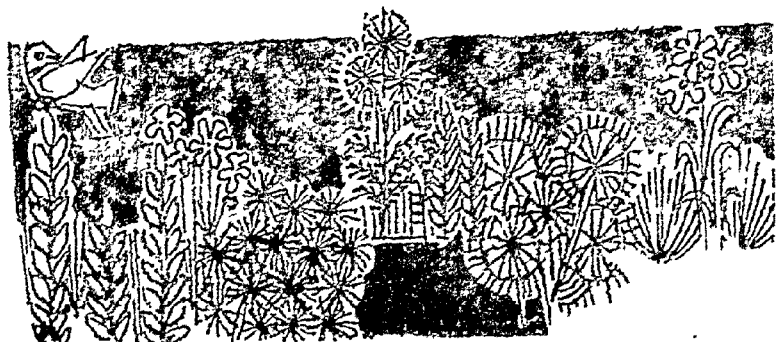
सचमुच बड़े चतुर थे। तू नहीं जानता…"

कालिदास ने उसके कन्धे पकड़कर झिझोड़ डाला, फिर चिल्लाए, "चुप रहो! मालिनी को कुछ कहा तो मैं तुम्हें मार डालूंगा। चले जाओ!"

सहमकर गोप दो पग पीछे हट गया। पर वहाँ से गया नहीं। एक भोजपत्र बढ़ाता हुआ बोला, "मालिनी ने तुझे यह सन्देश भेजा है। एक राही अभी-अभी तुझे खोज रहा था। ले!"

कालिदास ने लपककर भोजपत्र लेना चाहा, पर गोप ने उसे पीछे करते हुए कहा, "इस पर विश्वास मत कर बैठना कहीं। मैं सब जानता हूँ। आज ही उज्जयिनी के एक व्यापारी के दूत आए थे। मन्दिर पर की बूढ़ी गौतमी कह रही थी कि पेट और सुख के लालच से मालिनी भी उन्हीं के साथ दासी बनकर चली गई। सब ऐसे ही होता है…"

कालिदास ने भोजपत्र उसके हाथ से छीन लिया था, पर उसे पढ़े बिना ही बोले, "दासी बनकर?"

गोप चुप रहा। कालिदास ने भोजपत्र पढ़ा—

"मैं जा रही हूँ। तुम मुझे खोजना मत। जहाँ भी रहूँगी, तुम्हें याद करूँगी। अब तुम्हें अपने लिए और दुख देना नहीं चाहती। —मालिनी।"

"नहीं, झूठ है, झूठ है!" कालिदास चिल्ला पड़े।

"पागल मत बन, क्या झूठ है?" गोप ने उनके कन्धे पर थपकी दी।

"गौतमी झूठी है।" कालिदास चिल्ला पड़े, "मालिनी किसी के साथ सुख भोगने के लिए नहीं गई है। वह मेरे कारण चली गई। मेरे कारण गई…मेरे कारण…हे भगवान!"

सहसा वह चल पड़े। गोप ने रोककर पूछा, "तू कहाँ जा रहा है?"

"मैं उसे खोजने जा रहा हूँ।" कालिदास की आँखें चमक रही थीं, "यदि वह इस धरती पर है, तो खोजकर रहूँगा।"

गोप कुछ देर साथ चलता रहा। कालिदास गाँव की ओर से मुँह मोड़कर दूसरी ओर बढ़े तो वह बोल पड़ा, "तू उसे खोजना चाहता है न! तो सुन। इस तरह तो तू भी भूखों मर जाएगा। वह कभी न मिलेगी। मैं तुझे युक्ति बताता हूँ।"

"तू जानता है, वह कहाँ गई है ?" कालिदास ने गिड़गिड़ाकर पूछा।

"नहीं। पर वह राही बता रहा था कि वह किसी व्यापारी के सार्थ के साथ एक शकट पर बैठकर पाटलिपुत्र की ओर जा रही थी।"

'पाटलिपुत्र !"

"हाँ ! जल्दी मत कर। इस समय तक तो वह पता नहीं कहाँ पहुँच गई होगी। मेरी बात मान। तू उन पण्डितों के साथ लग जा। वह भी पाटलिपुत्र जा रहे हैं। मार्ग में तू उनका थोड़ा-सा काम कर देगा तो वह तेरी सहायता करेंगे। तुझे धन देंगे। तभी तो तू मालिनी को खोज सकेगा। और मान ले वह दासी के रूप में बिक ही गई हो, तब भी तो उसे मुक्त कराने के लिए धन चाहिए !"

कालिदास कुछ देर पथराए-से खड़े रहे। उनके सिर में भयानक पीड़ा हो रही थी। देह में जैसे ज़रा भी शक्ति न रह गई हो। कानों में विचित्र-सी सनसनाहट हो रही थी। कुछ भी सोचने-समझने का बल नहीं रह गया था। हारकर वह पैर घसीटते हुए गोप के साथ-साथ चल पड़े।

एक बार सोचा, मुड़कर देखें, शायद मालिनी वहाँ खड़ी हो। पर मुट्ठी में पड़ा भोजपत्र काँटे की तरह चुभ रहा था। उन्होंने उसे जोर से मसल डाला और रास्ते में एक ओर फेंक दिया।

नहीं, मुड़कर उस खाली झोपड़ी की ओर देखने का साहस नहीं हुआ। डर लग रहा था। जैसे अभी-अभी वहाँ कोई मर गया हो। उस ओर देखते ही···

इस बीच खा-पीकर ब्राह्मण तैयार हो चुके थे। कालिदास को देखते ही वे प्रसन्न हो गए।

गोप ने कहा, "इसे साथ ले ही जाइए, आर्य! बेचारे पर ऐसा संकट आ पड़ा। मैं अभी जा रहा था तो उस ओर से एक पथिक खोजता हुआ आया। उसने एक भोजपत्र दिया···"

उसने गौतमी की बात बताई, फिर मालिनी के भोजपत्र की कहानी भी सुनाई; बोला, "देखा न, यह बेचारा कितना दुखी है। इससे कुछ सेवा ले लीजिएगा, पर इसे अपने साथ ही रथ पर ले जाइएगा। इसे मालिनी मिल जाए तो···"

"अवश्य मिलेगी। आ चल। मैं तेरी सहायता करूँगा।" एक ब्राह्मण ने सहानुभूति के साथ कहा, "मैं तेरे लिए अपना रथ ही दे दूँगा।"

कालिदास को लगा कि वह व्यंग्य कर रहा है, पर जल्दी-से-जल्दी पाटलिपुत्र पहुँचने का, फिर मालिनी के लिए धन प्राप्त करने का कोई भी उपाय तो नही था। इसलिए इनके साथ जाना ही पड़ेगा। इन्हें उन जैसे किसी व्यक्ति की आवश्यकता है, यह बात भी वह उनकी बातचीत से ही जान चुके थे। सेवा के लिए धन वह पहले ही माँग लेंगे, फिर पाटलिपुत्र तो पहुँच ही जाएँगे।

वह सिर झुकाए खड़े रहे।

सात

दो-तीन दिन यात्रा लगातार चलती रही। कभी रथ पर, कभी नाव से, कभी व्यापारियों के दल के साथ और कभी पैदल ही। कालिदास को तन-मन की सुध नहीं थी। उन्हें जो कुछ कहा जाता, वैसा ही करते। अनमने-से खा-पीकर गुमसुम चलते रहते। कहाँ-कहाँ होकर किधर जा रहे हैं, कुछ पता नहीं। रात कहीं बीतती, दिन कहीं कटता।

दोनों ब्राह्मण साथी आपस में तरह-तरह की बातें करते, कभी किसी आचार्य की, कभी किसी काव्य या नाटक की और कभी राजकुमारी प्रियंगुमंजरी की। कालिदास उधर ध्यान न देते, फिर भी उन्हें इतना ज़रूर मालूम हो गया कि प्रियंगुमंजरी अवन्ती के नरेश विक्रमादित्य की कन्या है। वह बड़ी घमंडी है और अपने गुरु आचार्य वररुचि की भी हँसी उड़ाती है।

आचार्य वररुचि का नाम कालिदास ने सुन रखा था। उनकी विद्वत्ता और ज्ञान की चर्चा कहाँ नहीं होती! अवन्ती का राजा विक्रमादित्य उनका भक्त था। उनकी पूजा करता था। फिर भी राजकन्या उनका अपमान करती है। तब आचार्य वररुचि वहाँ क्यों पड़े हैं?

पर कालिदास का मन थोड़ी देर में ही उचट जाता और वह फिर दुख में खो जाते। मालिनी क्या सचमुच दासी बन गई है? व्यापारी उसे पाटलिपुत्र ले जाकर बेच देगा, तब? मालिनी का दुख से मुरझाया चेहरा याद करके कालिदास का जी भर आता। वह रूठ भी जाते। आखिर मालिनी ने ऐसा क्यों किया?

मुझ पर उसे भरोसा नहीं रह गया था। उसे सुखी रखने के लिए तो कालिदास सब-कुछ करने को तैयार थे। गाँव के पशु तक चराने ले जाते थे, लकड़ी काटकर बेचते थे। आवश्यकता पड़ने पर हर काम करते। फिर उन्हें छोड़कर मालिनी क्यों चली गई ?

"अरे, कालिदास ! सो रहा है क्या ?"

कालिदास जग-से पड़े, "क्यों ? पाटलिपुत्र आ गया ?"

दोनों ब्राह्मण ठहाका लगाकर हँसे। एक ने कहा, "देख लेना मित्र, इसे देखकर आचार्य हमें पुरस्कार देंगे।"

दूसरे ने कहा, "ऐसा सुपात्र देखकर राजकन्या का भी भाग्य उदय हो जाएगा।"

उनकी इन बातों से कालिदास को क्या लेना-देना था। उन्हें तो बस, इनकी सेवा करके धन लेना था, जिससे वह मालिनी को खोज सकें। वह चुप बैठे रहे।

एक ब्राह्मण ने बताया, "अभी तो हम घूम-घामकर अवन्ती की राजधानी में ही पहुँचे हैं।"

कालिदास ने चौंककर देखा। अरे ! सचमुच यहाँ इतने दिन रह चुके हैं, फिर भी पहचान नहीं पाए।

दूसरे ने कहा, "अब हम तुझे आचार्य वररुचि के पास ले चल रहे हैं। बस, यहाँ का काम होते ही तू राजा हो जाएगा। फिर तुझे कोई कमी नहीं रहेगी।"

दोनों फिर हँसे।

एक बहुत ही सुन्दर भवन के सामने रुककर उन्होंने कालि-दास से कहा, "इसमें आचार्य रहते हैं। तू तो इससे भी सुन्दर भवन में रहेगा।"

उनमें से एक ने द्वारपाल से कुछ कहा। सुनकर वह भीतर गया और तुरन्त ही लौटकर उन्हें साथ ले चला।

कितने ही द्वार, गलियारे और कक्ष पार करते-करते वे एक बहुत सुन्दर कक्ष में पहुँचे। वहाँ की सज-धज देखकर कालिदास ठगे-से रह गए। इसी धरती पर मालिनी भी रहती है, और उसका वह झोपड़ा!

सामने ही एक अधेड़ व्यक्ति बैठा था। उसके चेहरे पर चमक थी। आँखों से तेज-सा छिटक रहा था। वह एकटक कालिदास की ओर देख रहा था। कालिदास समझ गए, यही आचार्य वर-रुचि हैं। ऊँह! होंगे। उन्होंने उपेक्षा से मुँह फेर लिया।

"कौन है तू?" आचार्य का गम्भीर स्वर गूँज उठा।

कालिदास ने दूसरी ओर देखते हुए हँसकर कहा, "मनुष्य।"

आचार्य चौंके। वह ध्यान से कालिदास को देखने लगे, देखते रहे। कालिदास कभी कुछ सोचकर हँस पड़ते, फिर दूसरे ही क्षण मालिनी की याद आते ही दुखी हो जाते।

आचार्य सन्तुष्ट होकर बोले, "ठीक है। जो एक साथ दुख और सुख सहता है और एक साथ हँस-रो सकता है, वह या तो समर्थ विद्वान् होता है, या मूढ़।"

दोनों ब्राह्मण प्रसन्न होकर एक-दूसरे को देखने लगे।

आचार्य ने उठकर कालिदास का कन्धा पकड़ लिया; बोले, "मैं तुझसे प्रसन्न हूँ। तुझे राजकुमारी दर्शन देंगी। तू मेरा एक काम कर दे। वह तुझसे कुछ भी पूछे, बोलना मत। संकेत कर देना। जो भी इच्छा हो, वही संकेत कर देना। तू जो चाहेगा, मैं पुरस्कार दूँगा।"

कालिदास ने जैसे अभी से संकेत करते हुए धीरे से सिर हिला दिया।

सन्ध्या को अवन्ती के महाराज विक्रमादित्य के विद्वानों की सभा जुटी। कालिदास को सुन्दर वस्त्र पहनाकर आचार्य अ साथ ले गए। वहाँ का दृश्य देखकर कालिदास फिर चकि

गए। एक-से-एक तेजस्वी विद्वान् आसनों पर बैठे थे। पश्चिम की ओर सिंहासन पर महाराज बैठे थे। उनके निकट ही एक सुन्दर युवती थी। देखते ही लगा, जैसे स्वयं देवि सरस्वती बैठी हों।

आचार्य के संकेत से सभा में चुप्पी छा गई। आचार्य वररुचि ने कहा, "मेरे साथ महापण्डित कालिदास हैं। इन्होंने यश और कीर्ति का मोह छोड़कर चुपचाप साधना की है। देवि वाणी इन पर प्रसन्न हैं। किन्तु, आज इनका मौनव्रत है, इसलिए ये संकेत से उत्तर देंगे। राजकन्या प्रश्न करें।"

आचार्य वररुचि बैठ गए। सभा के बीचोंबीच पड़े खाली आसन पर उन्होंने कालिदास को बैठा दिया। राजकुमारी प्रियंगुमंजरी एकटक उन्हें देखती रही, देखती ही रही। कालिदास पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह चुपचाप बैठे रहे। अचानक राजकुमारी ने एक अँगुली उठा दी।

कालिदास ने तुरन्त ही दो अँगुलियाँ उठा दीं।

राजकन्या मुस्कराई। उसने पाँचों अँगुलियाँ खोलकर अपनी सुन्दर लाल हथेली सामने कर दी।

कालिदास ने तुरन्त ही सारी अँगुलियाँ समेटकर मुट्ठी बाँधी और सामने कर दी।

राजकन्या गम्भीर हो गई; और कालिदास अचानक हँस पड़े।

आचार्य वररुचि ने कहा, "राजकन्या, अपने प्रश्न दुहराओ। हम महापण्डित कालिदास के संकेत तुम्हें समझाएँगे।"

सभा के हर कोने से आवाज़ आई, "हाँ, ठीक है।"

राजकन्या ने कहा, "मेरा पहला प्रश्न है, विश्व एक है, परमात्मा एक है, फिर हम कौन हैं ?"

आचार्य वररुचि ने तुरन्त कहा, "महापण्डित का उत्तर है

कि सब कहीं द्वैत है। परमात्मा और जीव। परमात्मा एक है, जीव हम हैं।"

राजकन्या ने दूसरा प्रश्न बताया, "मैंने पूछा था, फिर यह पंचतत्त्व क्या हैं?"

दूसरे ही पल आचार्य ने कहा, "महापण्डित का उत्तर है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु—इन पाँचों तत्त्वों के मिलने पर ही तो सृष्टि होती है। नहीं तो कहाँ जीव, कहाँ परमात्मा?"

"धन्य हैं, महापण्डित धन्य हैं!" सारी सभा गूँज उठी।

आचार्य ने कहा, "राजकन्या कुछ पूछना चाहती हैं?"

सन्नाटा छाया रहा। प्रियंगुमंजरी एकटक कालिदास को देख रही थी और कालिदास इस समय जाने क्यों हँसे जा रहे थे।

महाराज विक्रमादित्य ने कहा, "मंजरी, क्या तू महापण्डित कालिदास के उत्तर से सन्तुष्ट है?"

राजकन्या ने निकट ही सोने के थाल में रखी हुई सुन्दर जय-माला उठाई और आगे बढ़कर कालिदास को पहना दी।

आचार्य वररुचि की आँखें बड़ी तेजी से चमक रही थीं। उन्होंने भारी स्वर से आज्ञा दी, "शुभ मुहूर्त्त है। राजकन्या को बुलवाइए।"

प्रियंगुमंजरी के आते ही आचार्य ने दोनों का हाथ अपने हाथ में ले लिया। सारी सभा में मन्त्र गूँज उठे। कालिदास पागल की तरह पथराए खड़े यह सब देखते रहे। अचानक उन पर फूलों की वर्षा करते हुए आचार्य ने आशीर्वाद दिया, "राज-कन्या का सौभाग्य अमर हो!"
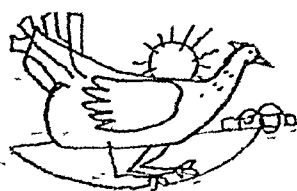
आठ

भोर होने ही वाली थी। कालिदास पत्थर की मूर्ति की तरह खड़े हुए दीवार पर लगे एक सुन्दर चित्र की ओर देख रहे थे। चित्र में पशुओं का एक झुण्ड नदी के किनारे मैदान में घास चर रहा था। कालिदास को मालिनी का गाँव याद आ रहा था। केवल सात दिन पहले वह इसी तरह पशुओं को ले-जाकर नदी के किनारे छोड़ देते थे। कितना सुन्दर लगता था वह सब! मालिनी दोपहर को उनके लिए मोटी-मोटी रोटियाँ लाती थी, कभी दही के साथ और कभी मधु के साथ। कालिदास का मन वहीं जा बैठा था।

फूलों से सजे उस सुन्दर कक्ष में राजपुत्री प्रियंगुमंजरी चुप-चाप बैठी उनकी ओर देखती रही। भोर का तारा सारे संसार का चक्कर काटकर उग आया। पर कालिदास का मौन नहीं टूटा। जहाँ थे, वहीं खड़े रहे। राजकन्या उठकर उनके पास जा खड़ी हुई और धीरे से बोली, "आर्य! इस चित्र में क्या देख रहे हैं?"

कालिदास ने चित्र में बनी एक काली गाय की ओर संकेत करते हुए कहा, "कितनी सुन्दर है, जैसे ग्रामणी की श्यामा धेनु हो! बड़ी प्यारी थी। जब मैं साँझ को पशुओं के साथ गाँव की ओर लौटता तो श्यामा कहते ही वह दौड़कर मेरे पास आ जाती। मेरा हाथ चाटने लगती।"

राजपुत्री चीखकर कई पग पीछे हट गई। उसकी आँखों से चिनगारियाँ छिटकने लगीं। झरोखे के सहारे टिककर उसने

हाँफते हुए कहा, "कैसे पशु ? किसकी श्यामा ? कौन हो तुम ?"

उसके चीखने से कालिदास का ध्यान टूटा। राजकुमारी अचेत-सी होकर झरोखे के खम्भे के सहारे टिकी थी। वह धीरे-धीरे पास जाकर उसे सँभालते हुए बोले, "घबरा क्यों गई राज-कन्या ?"

"नाथ, किन पशुओं की बात कर रहे थे आप ?"

"मालिनी के गाँव में पेट पालने के लिए मैं पशु चराया करता था न ! और उपाय ही क्या था ?"

"तो तुम पशुपालक हो ? चरवाहा ? आचार्य ने मुझे धोखा दिया ?" राजपुत्री प्रियंगुमंजरी के चेहरे का रंग उड़ गया। वह टूटते स्वर से बोली, "पर तुमने मुझसे विवाह क्यों कर लिया ?"

कालिदास चौंके, "विवाह ! कैसा विवाह ?"

राजपुत्री चीख पड़ी, "मूर्ख ··मैं सब समझ गई। आचार्य वररुचि ने अपने अपमान का बदला लिया मुझसे। कोई भी विद्वान् मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाता था। उन सबने मिल-कर यह षड्यन्त्र किया है। और तुम · तुम···"

कालिदास ने पागल की तरह बड़बड़ाते हुए कहा, "मैं · मैं कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं। मैं तो दास था। थोड़े-से धन के लिए·· मालिनी को खोजने के लिए·· उन्होंने जो कुछ कहा, मैं करता रहा। मुझे चेत नहीं था···मैं और कुछ नहीं जानता।"

राजकुमारी क्रोध से काँप उठी; चिल्लाकर बोली, "तुम्हारे कारण मेरा जीवन धरती पर बोझ बन गया···तुम विद्वान् का अभिनय करते हो, कर्म नहीं। जाओ···तुम चले जाओ !"

राजपुत्री प्रियंगुमंजरी हथेलियों में मुँह छिपाकर भागी। कालिदास अनजाने ही पीछे खिसके और लगा, जैसे वह सहसा आकाश से पृथ्वी पर गिर पड़े। एक-एक अंग चूर हो जाएगा···

आँखें खुलते ही कालिदास ने देखा, सामने ही महाकाली की

मूर्ति है। वह धीरे से उठ खड़े हुए। कुछ भी नहीं हुआ। नीचे देखा—मन्दिर में चढ़े फूलों का ढेर यों ही आँगन में पड़ा था, संयोग से उसी पर गिरे थे।

उन्होंने घूमकर पीछे देखा—झरोखे से प्रकाश की एक भी किरण नहीं दिखाई पड़ती थी। शायद किसी ने वहाँ जगमग-जगमग करते सारे दीपों को बुझा दिया था। उनके कानों में बार-बार राजपुत्री प्रियंगुमंजरी की आवाज गूँज रही थी, 'तुम विद्वान् का अभिनय करते हो, कर्म नहीं।'

उनकी कनपटी टपकने लगी। वह तनकर खड़े हो गए। महाकाली की ओर देखकर बिना हाथ जोड़े बोले, "माँ, मैं कालिदास प्रतिज्ञा करता हूँ, आज से विद्वान् का अभिनय नहीं, कर्म करूँगा...कर्म !"

वह अँधेरे में ही चल पड़े। पूरब में भोर की उजास फूट रही थी। कितने ही द्वार पार करने पड़े। कल सन्ध्या को राजकुमारी को पराजित करने वाले इस विचित्र युवक का चित्र हर व्यक्ति की आँखों में बस गया था। फिर गले में पड़ी वह जयमाला, सोने और चाँदी के आभूषणों से सजा शरीर...किसी ने रोक-टोक नहीं की।

राजभवन के बाहर निकलते ही उषा ने जैसे सुनहरे दीप जलाकर उनका स्वागत किया। जीवन का एक मोड़ पार करके कालिदास नए पथ पर उतर आए।

उन्होंने सारे वस्त्र और गहने उतारकर राजद्वार पर यों ही फेंक दिए। बस, प्रियंगुमंजरी की पहनाई हुई एक अँगूठी अपने साथ रख ली। उसमें एक बड़ा-सा नग जगमगा रहा था। उन्होंने दाँत से दबाकर नग उखाड़ लिया और धरती पर फेंक दिया। जब असली रत्न प्रियंगु ही पीछे छूट गई है, तो इस पत्थर को लेकर क्या करेंगे ! खाली अँगूठी उन्होंने सहेजकर रख ली।

पर धन ? उसके लिए आचार्य वररुचि के पास जाना ठीक नहीं। कालिदास अब किसी से नहीं मिलना चाहते थे। इस पत्थर को देने पर भी तो बहुत-कुछ मिल जाएगा; यही सही। उन्होंने फिर से झुककर धरती पर पड़ा रत्न उठा लिया और चुपचाप नगर की ओर बढ़ चले।

नौ

पाटलिपुत्र के सबसे बड़े सेठ धनदत्त हर प्रकार का व्यापार करते थे। उनके कितने ही बड़े-बड़े पोत और नौकाएँ समुद्री मार्ग से भारत से तरह-तरह की चीजें दूर-दूर के देशों तक ले जाती थीं। बाहर भारत के कीमती रेशमी वस्त्र, हाथीदाँत के आभूषण, सिंहल के बड़े-बड़े मोती, सुगन्धियों आदि की बड़ी माँग थी। उनके बदले में दूसरे देशों से तरह-तरह की वस्तुएँ, सोना और दास-दासियाँ भारत लाई जातीं।

गंगा के किनारे ही पथरीली दीवारों से घिरा हुआ एक बहुत बड़ा बाड़ा था। यहाँ सेठ धनदत्त के दास तरह-तरह के काम करते थे। उनका नायक था दंड। जैसा नाम, वैसा ही काम। जरा-सी गलती पर दासों को पशुओं की तरह मार-मारकर लहूलुहान कर देता।

साँझ अभी पूरी तरह उतरी भी नहीं थी। पिछवाड़े की ओर चौड़ा-सा रास्ता था। इस तरफ दीवार भी कुछ नीची थी। एक तांबे जैसे रंग वाला युवक दीवार से छलाँग लगाकर कूदा और तेजी से चक्कर काटकर पश्चिम की ओर भाग चला। इसी समय भीतर जोर से हल्ला मचा। काठ का बड़ा-सा दरवाजा खुला और बरछा तथा धनुष-बाण लिए हुए तीन-चार सैनिक उसे पकड़ने के लिए दौड़ पड़े। भागते हुए दास को देखते ही उनमें से एक चिल्ला पड़ा, "देवक ही है न! मैं जानता था, वह कभी भाग निकलेगा। पकड़ो!"

युवक भागता ही जा रहा था। पीछे शोर सुनकर वह और

तेजी से थोड़ी दूर पर दिखते घने झुरमुटों की ओर दौड़ पड़ा। वहाँ पहुँचते ही कहीं भी छिप जाने पर जान बच सकती थी।

थोड़ी देर के लिए लगा कि उसे पकड़ पाना कठिन ही होगा, लेकिन तभी बाड़े के भीतर से घोड़े की टाप सुनाई पड़ी और दूसरे ही पल दंड अपने काले घोड़े की लम्बी पीठ पर सवार बाहर आया। घोड़े की अयाल पकड़कर वह पीठ पर झुक गया। एड़ लगाते ही घोड़ा बाण की तरह छूट भागा।

देवक झुरमुट के पास पहुँचकर ठिठका। बीच मे चौड़ा-सा नाला था। पानी नहीं था लेकिन दलदल में फँसकर भाग नहीं पाएगा। वह दाईं ओर मुड़कर रेत पर दौड़ने लगा। गंगा के पानी में तैरकर तो जान बचाई जा सकती है!

लेकिन दंड ने उसे देख लिया। बीच से ही चक्कर काटकर वह घोड़े पर आगे जा पहुँचा। देवक भागने के जोश में उसे देख नहीं पाया था। रेत पर भागने में दिक्कत भी हो रही थी। वह जैसे ही मोड़ पर पहुँचा, दंड घोड़े से उछल पड़ा। उसने देवक को दबोचकर रेत पर ही दे मारा। गिरते ही कोड़ा लेकर उस पर टूट पड़ा, "सड़-सड़-सड़।"

देवक की पीठ और कंधे पर से खाल उधड़ आई। वह रेत पर ही छटपटाकर चीखने-बिलखने लगा।

"ठहर जाओ!"

किसी की कड़ी आवाज सुनाई पड़ी। दंड का हाथ ऊपर ही रुक गया। उसने आँखें उठाई। सामने खड़े अश्वारोही को कुछ देर फटी-फटी आँखों से देखता रहा, फिर जैसे एकाएक पहचानकर चौंक पड़ा। सिर झुकाते हुए बोला, "राजपुत्र का कल्याण हो!"

पीछे खड़े सैनिकों ने एक स्वर से वन्दना की, "राजकुमार चन्द्रगुप्त की जय हो!"

देवक दौड़कर राजकुमार के पैरों से लिपट गया और चिल्लाया, "मेरी रक्षा करें, आर्य ! मुझे बचाइए, दुहाई है !"

राजकुमार ने एक बार उसकी लहूलुहान पीठ को देखा—दो जगह चमड़ी उधड़ जाने से लम्बी-लम्बी रेखाएँ बन गई थीं। उन्होंने दंड की ओर देखा। आँखों से चिनगारियाँ छिटक रही थीं। दंड ने भय से सिर झुका लिया। राजपुत्र ने अपने निकट खड़े सैनिक को आज्ञा दी, "इसका मूल्य चुकाकर दास को मुक्त कर दो !"

रोते-बिलखते देवक से पाँव छुड़ाकर वह धीरे-धीरे तट की ओर बढ़ चले; बोले, "मैं कुछ देर यहाँ बैठूँगा। अकेला ही।"

बाईं ओर झुरमुट से निकलकर लम्बे-लम्बे बालों वाला एक सुन्दर-सा युवक सामने आ खड़ा हुआ। उसकी आँखें चमक रही थीं। राजकुमार को लगा कि वह कुछ कहना चाहता है। दोनों एक पल एक-दूसरे को देखते रहे, फिर एक साथ ही मुस्करा पड़े।

"वह पशु कौन था ?"

"पशु ?" राजकुमार हँसे, "पशु था नगरसेठ का दास।"

"वह नहीं। वह हत्यारा कौन था ?"

"हाँ, वह हत्यारा ही था। नगरसेठ के यहाँ नायक होगा।"

युवक भोलेपन के साथ सिर हिलाकर बोला, "कंथक होता तो उसे मार डालता। तुमने उसे दंड क्यों नहीं दिया ? तुम तो सैनिक अधिकारी हो। क्या तुम्हारे सम्राट् अत्याचारियों को दंड देने की आज्ञा नहीं देते ?"

राजकुमार उसकी ओर देखकर फिर हँसे; बोले, "तुम पाटलिपुत्र में नहीं रहते ?"

"नहीं। देखने की बड़ी लालसा थी। आज ही आया हूँ।"

थोड़ी देर तक दोनों चुप रहे, फिर वही बोला, "नगर में

प्रवेश करते ही यह काण्ड देखकर मन रो पड़ा। तुम न आ जाते तो उसके प्राण ही चले जाते। तुम महान हो। पर वे लोग उस दास के प्राण लेकर ही रहेंगे।"

राजकुमार ने स्नेह के साथ कहा, "नहीं, इतनी दूर होने के कारण तुम शायद सुन नहीं सके। मैंने दास का मूल्य चुकाकर उसे स्वतन्त्र करा दिया है।"

युवक ने राजपुत्र के गले से लिपटकर कहा, "तुम महान हो। मुझे अपना मित्र बनने का सौभाग्य दोगे ?"

उत्तर में जैसे उसे अपना मित्र मानकर चन्द्रगुप्त ने प्यार से उसका हाथ दबाया, फिर तट की ओर बढ़ते हुए बोले, "आओ बैठें। कुछ देर बातें करें। तुम्हारा नाम क्या है ?"

"कालिदास।"

"कालिदास ?" उन्हें लगा कि यह नाम सुना हुआ है। हाँ, याद आया—आर्य हरिषेण ने उज्जयिनी से लौटकर कालिदास की कविता की चर्चा की थी। पूछा, "आर्य कवि है न ?"

कालिदास ने चौंककर कहा, "तुम कैसे जानते हो ? और मित्र को सहसा आर्य क्यों कहने लगे ?"

चन्द्रगुप्त ने कहा, "विद्वान् का आदर कौन नहीं करता ! वैसे भी आप मुझसे बड़े लगते हैं।"

कालिदास ने चन्द्रगुप्त के कंधे पर हाथ धरकर कहा, "छिः ! कंथक तो मुझे तू कहता है। उसे जानते हो ? पाटलिपुत्र ही आया हुआ है। मिल जाए तो मेरी चिन्ता दूर हो।"

"कैसी चिन्ता ? मैं भी तो मित्र हूँ।"

कालिदास ने हँसकर कहा, "हाँ, पर आप अधिकारी है और कंथक मेरे बराबर का है।"

पीछे से घोड़े की टाप सुनाई पड़ी। मुड़कर देखा, शायद कोई दूत आ रहा था। निकट आकर वह घोड़े से उतर पड़ा

और प्रणाम करके एक ओर खड़ा हो गया।

"क्या है ?"

दूत ने चिन्तित होकर कहा, "मुझे आर्य हरिषेण ने भेजा है। वह तत्काल आपका दर्शन करना चाहते हैं।"

चन्द्रगुप्त तुरन्त उठ खड़े हुए। कालिदास के कंधे पर हाथ धरकर बोले, "फिर दर्शन करूँगा।" और लपककर घोड़े पर सवार हो गए।

दस

पाटलिपुत्र के हाट की चकाचौंध देखकर कालिदास चकित रह गए। उन्होंने घूम-फिरकर कितने ही नगर देखे थे। महा-नगरी उज्जयिनी भी देखी थी, लेकिन पाटलिपुत्र की शोभा ही और है। सब कुछ अनोखा—एक-से-एक बढ़कर। कहीं सोने-चाँदी की चमक, कहीं मणि-मुक्ता और भाँति-भाँति के रत्नों की दमक। क्या नहीं बिकता था वहाँ—मिट्टी से लेकर मनुष्य तक। देश का सारा धन-वैभव खिंचकर जैसे इस हाट में चला आया है। बड़े-बड़े सामन्त, राजकुमार और उनके यहाँ की सुन्दरियाँ घोड़ों, रथों या पालकियों पर यहाँ आती हैं और पानी की तरह सोने-चाँदी की मुद्राएँ बहाकर चली जाती हैं। और चाँदी के एक छोटे-से टुकड़े के कारण उस रोज मालिनी के प्राण चले जाते !

कालिदास सिहर उठे। मालिनी के गाँव में कितने ही लोग वस्त्र न होने के कारण जाड़े से ठिठुरते हैं और इस हाट में दुकानों के सामने रेशमी वस्त्र बिछे हुए हैं। भंड का बेटा भूख के कारण अकड़कर मर गया था और यहाँ कुण्ड के किनारे बैठी हुई सेठों और सामन्तों की कुलवधुएँ पता नहीं कितना अन्न पक्षियों, मछलियों तथा दूसरे जन्तुओं के सामने योंही फेंक-फेंक-कर खेल रही हैं, आनन्द ले रही हैं। आर्य हरिषेण से पूछना होगा। मिलते ही पूछेंगे।

"कंथक, ओ कंथक !" सहसा कालिदास चिल्ला पड़े।

दूसरी ओर एक रथ के पीछे-पीछे चलता हुआ कंथक रुक

गया। कालिदास दौड़कर उसके निकट पहुँचे। ऊपर से नीचे तक देखकर हँसे; बोले, "सैनिक वेश में बड़ा अच्छा लगता है तू। लेकिन यहाँ तो तू किसी नाट्यशाला में नट का काम करने आया था?"

उनकी आँखें रथ की ओर उठीं और उठी ही रह गईं। महाकाल के मन्दिर में इन्हीं से तो भेंट हुई थी। दो पग आगे बढ़कर दायाँ हाथ उठाते हुए बोले, "कल्याण हो, आर्य! कहिए, मनुष्यों का व्यापार ठीक चल रहा है न?"

कंथक का चेहरा भय से काला पड़ गया; बोला, "क्या कहते हो! ये आर्य......"

रथ में बैठे आर्य हरिषेण ने उसे बोलने से रोक दिया। फिर कालिदास की ओर देखकर बोले, "पाटलिपुत्र में तुम्हारा स्वागत है। कैसा लगा?"

कालिदास ने कड़वे स्वर से कहा, "देखकर भय लगता है, घृणा होती है। बस!"

"तुम कवि हो न? फिर भी सुन्दरता से तुम्हें घृणा होती है?"

कालिदास ने तुरन्त कहा, "देखने में तो साँप की देह भी सुन्दर लगती है।"

हरिषेण की आँखें चमक उठीं; बोले, "पाटलिपुत्र में रहोगे?"

"नहीं। बस, एक लालसा है, उसे पूरा करते ही चला जाऊँगा।"

हरिषेण कुछ देर अनमने-से सोचते रहे, फिर कंथक से बोले, "दास, जब ये ऊबकर जाने लगें, तो इन्हें आर्य हरिषेण से अवश्य मिला देना।"

फिर कालिदास की ओर देखकर बोले, "कवि, यदि तुम्हें

कष्ट न हो तो पाटलिपुत्र में मेरे अतिथि बनकर रहो।"

कालिदास ने धीरे से हँसकर कहा, "धन्यवाद ! मुझे किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं है। आपका दास मेरा मित्र है।"

हरिषेण जोर से हँसे, "अच्छा ! तो कंथक, तू अपने मित्र का स्वागत कर।"

दोनों को वहीं छोड़कर हरिषेण का रथ चला गया।

कालिदास ने कंथक की पीठ पर हाथ रखकर कहा, "क्या तेरे स्वामी ने तुझे मुक्त कर दिया ? इन धनी व्यापारियों और अधिकारियों के स्वभाव तो राजा और देव से भी विचित्र हैं।"

कंथक एक क्षण हिचककर बोला, "लेकिन तू तो इन सबसे विचित्र है।"

"क्यों ?"

"जिन्हें तूने अभी-अभी देखा है, वह चाहें तो तू क्षणभर में राजा का प्रिय बन सकता है। जानता है ?"

कालिदास ने सिर हिलाकर कहा, "खूब जानता हूँ। महाकाल के मन्दिर में स्वयं उन्होंने यही बात मुझसे कही थी।"

कंथक चकित रह गया; बोला, "तो तुझे राजा का प्रिय बनना अच्छा नहीं लगा ?"

"नहीं। मुझे किसी के हाथों विकना अच्छा नहीं लगता। कंथक का प्रिय बनना ही अच्छा लगता है।"

कंथक ने मन-ही-मन कालिदास को प्रणाम किया। जिस व्यक्ति पर आर्य हरिषेण की कृपा हो, वह कल पता नहीं क्या बनेगा। कंथक को भाग्य से ही उसका प्रिय बनने का अवसर मिला है। आर्य हरिषेण पता नहीं क्या चाहते हैं। यह नाटक उसे निभाना ही पड़ेगा। बनकर बोला, "चल, कहीं कुछ खा लें, तुझे भूख लगी होगी।"

कालिदास ने पेट पर हाथ रखते हुए कहा, "सचमुच, अब

तक तो तुझे ही खोजता भटक रहा था, इसीलिए भूल गया था और अब लगता है, कुछ खाया नहीं तो यहीं पड़कर सो जाऊँगा।"

कंथक की आँखें भर आईं। दूसरी ओर मुँह फेरकर बोला, "आ, चल !"

जरा आगे बढ़कर उसने कहा, "यह राजमार्ग पार करके उस ओर चलना पड़ेगा। हम निर्धनों के लायक खाना-पीना तो वहीं मिलेगा।"

लेकिन मोड़ तक पहुँचते-पहुँचते कोलाहल मच गया। घोड़ों की टापों से हाट गूँज उठा। घोड़ों पर बैठे हुए दो सैनिक आगे-आगे सावधान करते जा रहे थे, "सावधान! सावधान! महाराजकुमार चन्द्रगुप्त पधार रहे है।"

भीड़ राजमार्ग से हटकर किसी प्रकार किनारों पर टिकने की चेष्टा कर रही थी। धक्का-धुक्की में कालिदास पीछे छूट गए। कंथक उन्हें खोजकर उनका हाथ पकड़ते हुए बोला, "यहीं खड़ा रह। अब तो महाराजकुमार का रथ जाने तक भूखा ही रहना पड़ेगा।"

कालिदास के मुर्झाए चेहरे पर मलिन-सी हँसी उभरी; बोले, "चल, देख लूं, महाराजकुमार चन्द्रगुप्त कैसे हैं।"

राजसी ठाठ से सजे हुए कई घुड़सवार और निकल गए। उसके बाद कुछ हाथी थे, फिर घुड़सवार और उसके बाद था महाराजकुमार का रथ। सोने-चाँदी की दमक और जड़े हुए रत्नों की जगमगाहट। कंथक का हाथ पकड़े हुए कालिदास एक पेड़ के तने का सहारा लेकर राजमार्ग के किनारे सबसे पहली पंक्ति में खड़े थे। यह सब कुछ उनके मन में काँटे की तरह चुभ रहा था। सोने-चाँदी की चमक में उन्हें भूख से झिपती हुई आँखों की पीली लौ दिखाई पड़ रही थी। भूख की यह लौ महाराजकुमार की शोभा है।
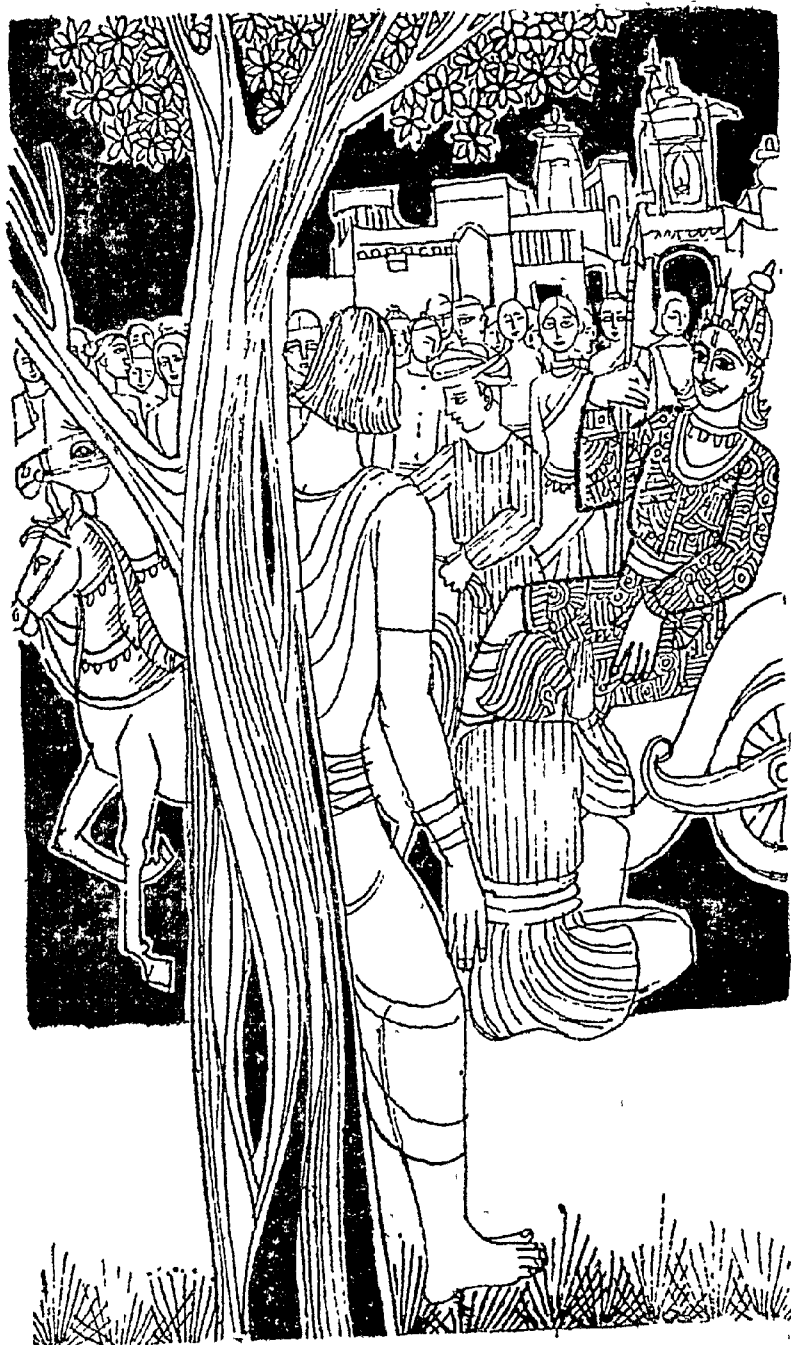
सहसा वह चौंक उठे। रथ ठीक उनके सामने पहुँचकर रुक गया। महाराजकुमार से पलभर के लिए आँखें मिलीं। उन्होंने मुस्कराकर पूछा, "कहो मित्र, कुशल से हो ?"

कालिदास का गला सूख-सा गया। महाराजकुमार ने हाथ बढ़ाकर कहा, "चलूँ, फिर दर्शन करूँगा।"

कालिदास के दाँत बैठ-से गए थे। वह धीरे से फुसफुसाए, "महाराजकुमार !"

कंथक ने उन्हें झकझोरते हुए, "चलेगा नहीं ? चल, खा ले।" और ठहाका लगाकर हँस पड़ा।

कालिदास कुछ समझे बिना उसके पीछे-पीछे चल पड़े।
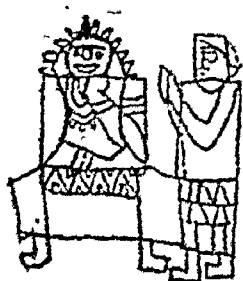
ग्यारह

सवेरे आँख खुलते ही कालिदास ने देखा कि वह अकेले पड़े हैं। उठकर इधर-उधर खोजा, पर कंथक का कहीं पता न था। वह मन-ही-मन हँसे। कंथक का स्वभाव भी विचित्र ही है। जब देखो, ऐसे ही छोड़कर चला जाता है। उज्जयिनी में भी उन्हें और मालिनी को इसी तरह छोड़कर गायब हो गया था। फिर खोजता-खोजता कई दिन बाद मालिनी के गाँव में पहुँच गया। वहाँ से फिर उसी तरह एक दिन पता नहीं कहाँ चला गया। अब पाटलिपुत्र में मिला। और अब फिर गायब है।

यहाँ सब कुछ विचित्र है। यह कंथक तो निर्धन नट है। बड़े लोग विचित्र हों तो हों, यह क्यों है। कल ही महाराजकुमार चन्द्रगुप्त का हाल देखा; फिर उस रथी को देखो! वह भी कम विचित्र नहीं। कंथक को मेरे पास छोड़ गया--जब जी ऊबे तो आर्य हरिषेण से मिला देना। जैसे हरिषेण उसके वश में हों।

कालिदास उठकर गंगा की ओर निकल गए। नहा-धोकर वह कल की ही तरह उसी झुरमुट के पास जा बैठे। यहीं पास ही बैठकर कल महाराजकुमार चन्द्रगुप्त किस तरह बात कर रहे थे। उनका रूप-रंग, बैलों के-से चौड़े कन्धे, ऊँचा ललाट, सब देखकर लगता था, जैसे कोई देवपुत्र बैठा हो। उनका रूप कालि-दास के मन में बस गया। उन्हीं की तरह उदार यदि सम्राट् समुद्रगुप्त होते तो प्रजा इस तरह भूखों मरती! और मालिनी उस तरह दासी बनकर भटकती फिरती!

कालिदास का मन करुणा से भर आया। आँखें गीली हो

गईं। आज तक मालिनी का कहीं पता न चला। उन्हें लगा, जैसे किसी दैत्य ने उसे बरबस अपने यहाँ बन्दी बना रखा है। उसका वध करके ही उसे छुड़ाया जा सकता है। उन्हें एकाएक वह पौराणिक कहानी याद आई—राजा पुरुरवा ने जिस तरह केशी दैत्य के हाथों से अप्सरा उर्वशी को छुड़ाया था।

पता नहीं क्या हुआ। कालिदास जैसे ध्यान में डूब गए। सूर्य देवता का स्वागत करके ऊषा विदा हो गई, पर कालिदास वहीं खोए-खोए से बैठे रहे। वह सपना-सा देख रहे थे। उर्वशी की जगह मालिनी है और पुरुरवा की जगह वह स्वयं हैं। दैत्य की तरह एक व्यक्ति मालिनी को पकड़े चला जा रहा है और कालिदास उसका पीछा कर रहे हैं...

एक-एक अक्षर जुड़ने लगा। वह कभी कुछ गुनगुनाते, कभी बड़बड़ाने लगते। आसपास क्या हो रहा है, उन्हें कुछ मालूम नहीं।

पता नहीं कब तक वह उसी तरह खोए रहे। सहसा किसी ने कन्धे पर हाथ रख दिया। वह चौंक पड़े। आँखें खोलीं। देर तक यों ही ताकते रहे।

"तू तो आँखें खोलकर भी सोता रहता है!"

"ऊँ...ओऽऽ...कंथक, कहाँ चला गया था तू?"

"वहीं तो था। सोचा, सवेरे तेरे खाने-पीने का प्रबन्ध कर आऊँ। लौटा, तो तू गायब। कब से खोज रहा हूँ..."

कालिदास जैसे उसकी बात सुन नहीं रहे थे, एकाएक बीच में ही काटकर बोले, "तू नट है न, कंथक! एक बात सुन, मैं नाटक लिखूँ तो खेलेगा?"

कंथक चौंक पड़ा, "नाटक...तू लिखेगा? लिख सकता है?"

"हाँ, मुझे थोड़ा-सा भोजपत्र ला दे, और...और एक..."

"दूँगा, मैं सब दूँगा...चल।"

नगर के छोर पर एक छोटे-से घर में कालिदास के लिए कंथक ने सारी सुविधा जुटा दी; बोला, "तू यह नाटक लिख दे, तो मेरा सबसे बड़ा हित होगा। दास बना फिरता हूँ, एक नाटक अपना हो, नया हो, तो कला दिखाऊँ अपनी। वही अश्वघोष, वही भास, वही सौमिल्ल···इन सबके नाटक पुराने पड़ गए।" फिर जाते-जाते बोला, "मैं जल्दी ही आऊँगा। सब प्रबन्ध है, तुझे कष्ट नहीं होगा, पर लिखेगा न ?"

कालिदास हँसे, "अब तो मित्र का कार्य हो गया। अब भी नहीं लिखूँगा तो पाप लगेगा।"

कंथक के जाते ही उन्होंने लेखनी उठा ली और भोजपत्र पर एक-एक अक्षर उतरने लगा···

एकाएक प्रकाश होने के कारण उनका ध्यान टूटा। सामने दीपक हाथ में लिए कंथक खड़ा था। वह मुस्कराए, फिर लिखने लगे। कंथक ने पूछा, "खाएगा नहीं, आ··कुछ खा लें···"

"अँ ·····" कालिदास कहीं दूर खोए-खोए से बोले, "नहीं, उर्वशी, नहीं···"

कंथक कुछ देर अपलक खड़ा कवि की ओर देखता रहा, फिर पीछे लौट गया।

आखिर नाटक का अन्तिम शब्द लिखकर कालिदास ने लेखनी रख दी और पुकारकर बोले, "ले, ओ कंथक ! ले, देख तो कैसा है।"

पास ही बैठा कंथक गीली आँखों से उनकी ओर देख रहा था। उसकी गोद में लिखे हुए भोजपत्रों का ढेर पड़ा था।

"क्यों ? तू रोता क्यों है ?" कालिदास चौंक पड़े।

कंथक ने उठकर उनका हाथ हाथों में ले लिया, स्नेह से दबाता हुआ बोला, "मित्र, तुझे मालिनी से बड़ा मोह है न !"

गहरी साँस भरकर कालिदास चुप रहे।

"तूने इसमें उर्वशी का जो वर्णन किया है, उसे पढ़ते ही लगता है कि फूलों के गहने पहनकर आँखों के सामने सजीव मालिनी आ खड़ी हुई है।"

"व्यर्थ है, सब व्यर्थ! जब तक दैत्य से उसे छुड़ा नहीं लेता, तब तक..."

कंथक ने उन्हें छाती से लगाकर कहा, "तू चिन्ता मत कर! मित्र, मैं मालिनी को खोजकर रहूँगा। तू कल प्रातःकाल से ही बैठा है, यह दूसरी भोर हो गई, कुछ खाकर सो जा। मैं उपाय करता हूँ...चल!"

कालिदास चुपचाप उसके साथ चल पड़े।
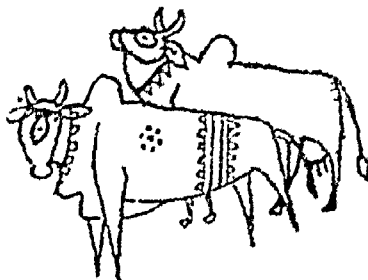
बारह

कंथक ने सिर हिलाते हुए कहा, "नहीं, मैं सच कह रहा हूँ, तुझे देखकर आर्य हरिषेण प्रसन्न होंगे। उनकी कृपा हो जाए तो मालिनी चाहे धरती के गर्भ में छिपी हो, उसे खोज ही निकालूँगा।"

कुछ देर सिर झुकाए कालिदास पता नहीं क्या-क्या सोचते रहे, फिर सहसा बोले, "अच्छा ठीक है। मुझे आर्य के पास ले चल!"

"चल!" कंथक तुरन्त उठ पड़ा, "वह देखता है न, ऊपर लगा त्रिशूल, वही आर्य हरिषेण का भवन है।"

द्वार पर पहुँचकर कालिदास हिचके, "हमें भीतर कौन जाने देगा, कंथक! इस वेश में!"

कंथक हँसा; बोला, "तू आ तो सही।"

द्वारपाल के निकट जाकर कंथक ने पता नहीं क्या दिखाया। वह प्रणाम करके पीछे हट गया। पास आने पर कालिदास ने पूछा, "उसने प्रणाम किसे किया है?"

"इसे।" कंथक ने मुद्रा आगे कर दी।

"मुद्रा? यह तो आर्य हरिषेण की मुद्रा है। तुझे कहाँ मिली?"

कंथक हँसकर रह गया। उत्तर नहीं दिया।

मुद्रा के कारण कहीं भी रोक-टोक नहीं हुई। आँगन पार करके एक सुन्दर द्वार के पास रुकते हुए एकान्त में कंथक बोला, "मित्र, तू महान है! आज से मैं तुझे मित्र कहने योग्य नहीं

रहूँगा। मेरे अपराध क्षमा कर देना।"

"तू कहता क्या है !" कालिदास आश्चर्य से बोले, "तू मेरा मित्र नहीं रहेगा, तो लौट चल ! मैं यहाँ नहीं जाऊँगा।"

रुलाई रोककर गीली आँखों से कालिदास को देखकर कंथक उन्हें *खींचता हुआ द्वार के भीतर ले गया और बोला,* "आर्य हरिषेण की जय हो !"

"आ···र्य ··हरिषेण ··" कालिदास चकित रह गए।

"स्वागत है, कवि !" आर्य हरिषेण उठ खड़े हुए। पास आकर उन्होंने कालिदास का हाथ पकड़ लिया, "आओ !"

कालिदास ने माथा झुकाकर प्रणाम किया; बोले, "मुझसे इतने दिन माया क्यों रखते थे, आर्य ? मैंने अनजाने ही आर्य के लिए पता नहीं कितने कड़वे शब्द कहे होंगे··"

"वह मुझे मीठे लगते थे, कालिदास ! अनजाने तुम जो कहते थे, अब जानकर भी वही कहो। तुम्हारा एक-एक शब्द मधुर है, ठीक वैसे ही, जैसे उर्वशी का एक-एक अक्षर !"

"उर्वशी ?"

"हाँ कवि, तुम्हारा नाटक !" हरिषेण ने पास ही रेशमी वस्त्र पर सजाकर रखे भोजपत्र की ओर इशारा किया। फिर बोले, "कंथक से रूठना मत ! वह मेरे कहने पर ही तुम्हारे साथ लगा था।"

कालिदास ने कहा, "उससे मैं रूठकर ही रहूँगा। मेरे अनजाने ही, मेरी इस बच्चों की-सी रचना को उसने यहाँ तक पहुँचा दिया। छिः !"

हरिषेण हँस पड़े। उन्होंने कहा, "तुम इसके रचने वाले हो, चाहे जो कहो। पर हमारे लिए तो यह अमृत है। इसे देखकर जानते हो सम्राट् ने क्या कहा ?"

"सम्राट् !" कालिदास के माथे पर बल पड़ गए, "उन्होंने

भी देखा है इसे ?"

"हाँ, और अब इसे रचने वाले को भी देखना चाहते हैं। इसीलिए तुम्हें इस प्रकार बुलाना पड़ा है।"

कालिदास चुप खड़े सोचते रहे।

उन्हें आसन पर बैठाकर हरिषेण ने कहा, "तुम कुछ कहना चाहते थे न मुझसे ? कहो, कवि !"

कालिदास ने कहा, "उसे आर्य सुन ही चुके हैं। और कहना ही क्या है ?"

"वह तो सुन चुका हूँ, उज्जयिनी में भी, यहाँ भी। पर वह तो प्रजा के लिए था।"

"मैं भी तो प्रजा का ही हूँ, भला और किसके लिए कहूँगा, आर्य ?"

"अपने लिए। अपने लिए भी कुछ कहो, कवि ! अपने लिए न सही, अवन्ती की राजकन्या प्रियंगुमंजरी के लिए ही कुछ..."

कालिदास चौंककर खड़े हो गए ; बोले, "आर्य !"

हरिषेण की आँखें चमक उठीं, "वह सब हम जानते हैं, कवि ! अवन्तिराज मगध के मित्र हैं, सामन्त हैं। उनकी कन्या से अपमान का बदला लेने के लिए ही आचार्य वररुचि ने तुम्हें मूढ़ समझकर उसका विवाह तुमसे करा दिया। आचार्य अवन्ति छोड़कर चले आए हैं। राजकुमार चन्द्रगुप्त ने उन्हें शरण दी है। उन्हीं से मुझे सब कुछ मालूम हो गया। देवि प्रियंगुमंजरी भी यहीं हैं, कवि !"

आँखें मूँदकर कालिदास आसन पर निढाल पड़े रहे।

"प्रियंगुमंजरी को क्षमा नहीं करोगे, कवि ?"

"देव !" कालिदास की आँखें भर आईं ; बोले, "मैं स्वयं अपराधी हूँ। प्रियंगुमंजरी को क्षमा करने के पहले मुझे मालिनी से क्षमा माँगनी पड़ेगी। मैं उसकी रक्षा न कर सका। माँ ने

मुझे ही तो सौंपकर आँखें मूँद ली थीं। उसके लिए आपसे कहूँगा, आर्य, मालिनी के लिए। और किसी के लिए नहीं।"

आर्य हरिषेण ने धीरे से सिर हिलाया। गले में जैसे कुछ अटक गया हो। आँखों से दो कण आँसू टपक पड़े; बोले, "बहुत कठिन है, कवि! मुझसे पहले वह सम्राट् से मिल चुकी है। सम्राट् ने उसे वचन दे दिया है।"

"मालिनी यहाँ है? यहाँ?" कालिदास चिल्ला पड़े, "कहाँ है, आर्य? सम्राट् ने कैसा वचन दिया है? कुछ तो बताइए!"

"बहुत कठिन है, कवि! मैंने कितनी कठिनाई से उसे खोज निकाला था! उस दिन तुम्हारा 'उर्वशी' नाटक पढ़कर सम्राट् ने तुम्हारे सम्बन्ध में पूछा। मालिनी का प्रसंग सुनते ही उन्होंने आज्ञा दी—उसे खोजो, जहाँ भी हो, मालिनी को लाओ। सोचा था, कवि को मालिनी का हाथ सौंपकर कहेंगे..."

सहसा आहट हुई, उन्होंने पीछे घूमकर देखा—द्वार पर राजकुमार चन्द्रगुप्त खड़े थे। कालिदास के पास आकर बोले, "तुम कवि हो, यह दुख सहन करना पड़ेगा।"

"मालिनी है कहाँ, आर्य? क्या हुआ उसे? कैसा दुख है?" कालिदास बिलख उठे।

"वह चली गई। सम्राट् की आज्ञा लेकर चली गई। कोई नहीं जानता, कहाँ चली गई।" राजकुमार ने सिर झुका लिया, "आर्य हरिषेण से मैंने सब कुछ सुना, पर तब देर हो चुकी थी। तुम्हारे नाम सन्देश छोड़ गई है..."

"सन्देश? कहाँ है?"

"नहीं, लिखकर नहीं दे गई। बस, कह गई है, देवी प्रियंगुमंजरी से कह गई है—कालिदास महान् है, विशाल है। मैं उसके पथ में बाधा हूँ। वह जो है, वही बने, इसलिए मैं जा रही हूँ। कहना, मुझे क्षमा कर दे।"

"मालिनी ! मालिनी ! तूने ऐसा क्यों किया ?" कालिदास चीख पड़े, "तूने ऐसा क्यों किया ? तेरे बिना कालिदास कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं..."

"नहीं, कवि, ऐसा न कहो !" हरिषेण ने उनके कन्धे स्नेह से थपथपाते हुए कहा, "इससे मालिनी को सुख नहीं मिलेगा। कोई भी सुखी नहीं होगा। मंजरी भी नहीं। मालिनी ने कहा था, एक मेरे लिए कालिदास भले ही आँखों की ओट रहे, पर वह सारे युग का तो होगा, सारी धरती का होगा। मेरा सुख न सही, सारी धरती के सुख के लिए मेरा सुख जाए तो जाए ..."

"नहीं...नहीं ...नहींऽऽऽ ..."

कालिदास उन सबको अवाक् छोड़कर तेजी से बाहर निकल गए।

कुछ देर के लिए जैसे सभी पथरा गए, पर द्वार के पास सिर झुकाए खड़ा कंथक धीरे से बाहर निकल गया।

तेरह
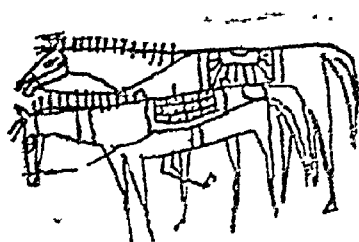
कालिदास से बिछुड़े आठ-नौ माह बीत चुके थे।

आर्य हरिषेण से आज्ञा लेकर कंथक यों ही भटकता फिर रहा था। ज्येष्ठ की भयंकर गर्मी। प्रयाग में त्रिवेणी पर स्नान करके वह एक ओर बैठा संगम की ओर देख रहा था। यहाँ गंगा का उजला पानी यमुना के नीले पानी से मिलकर एक हो गया है। फिर भी दोनों के बीच अलगाव की एक ऐसी रेखा साफ दिखाई पड़ती है...

एकाएक वह चौंक पड़ा। एक स्त्री अंजलि भर-भरकर गंगा के पानी से सूर्य को जल चढ़ा रही थी। वह उठ खड़ा हुआ। पास जा पहुँचा। जल चढ़ाकर युवती अपने स्थान पर ही घूमकर सूर्य देवता की परिक्रमा करने लगी। कंथक को कोई सन्देह नहीं रह गया।

परिक्रमा पूरी होते ही उसे आगे बढ़कर हाथ जोड़ते हुए कहा, "दास का प्रणाम स्वीकार करें, आर्या !"

युवती कुछ देर आश्चर्य से उसकी ओर देखती रही, फिर एकाएक बोली, "दास नहीं, मित्र कहो, कंथक ! मैं जानती हूँ तुम आर्यपुत्र के प्रिय हो। बहन मालिनी ने भी यही बताया था।"

कंथक का गला भर आया ; बोला, "मेरा ऐसा भाग्य कहाँ है, देवि ! कवि यदि मुझे मित्र समझते तो मुझे छोड़कर इस तरह चले न जाते। अपने को उनका मित्र कहते हुए मुझे लाज आती है। नहीं, वह मेरे मित्र नहीं हैं। वह..."

युवती ने बीच ही में टोककर कहा, "नहीं, कंथक, नहीं।

मेरे सामने उन्हें कुछ कहना मत। एक वार अपने ही मुँह से उनकी निन्दा कर चुकी हूँ। उसी वेदना के कारण उनके वियोग में भटकती फिर रही हूँ। कानों से उनकी निन्दा सुनूँगी, तो कहीं अगला जन्म भी व्यर्थ न हो जाए।"

कंथक आँसू पी गया। उसे कालिदास पर कम क्रोध नहीं है पर सामने खड़ी दुख से तड़पती राजपुत्री प्रियंगुमंजरी तो उनकी पत्नी हैं। उनसे बढ़कर कौन दुखी होगा; वोला, "क्षमा करें आर्या! आप यहाँ कैसे?" एक वार इधर-उधर देखकर वोला, "और दास-दासी कोई भी तो नहीं दिखाई पड़ता। कहाँ गए सव?"

राजपुत्री हँस पड़ीं; वोलीं, "नहीं, कोई नही है। मैं अकेली ही हूँ। आज सात मास वीत गए हैं। प्रण करके निकली हूँ; आर्यपुत्र का दर्शन किए बिना नहीं लौटूँगी।"

कंथक आँखें फाड़कर उन्हें ताकता ही रह गया; वोला, "अकेली ही, सात मास से! इतना दुख कैसे सह रही है, आर्या?"

"जिस तरह आर्यपुत्र सहते होंगे।" राजपुत्री ने आँखे झुका लीं।

कंथक कुछ देर सोचता रहा; वोला, "तव मेरी एक प्रार्थना है, देवि! मुझे साथ ले लें। आपकी तपस्या सफल होकर रहेगी। उसी के वल पर शायद मुझे भी आर्य के दर्शन हो जाएँ।"

राजपुत्री ने कहा, "आर्य नहीं, मित्र कहो, कंथक! तुम्हारे मुँह से आर्य सुनकर कहीं वह फिर रूठ न जाएँ।" थोड़ी देर रुककर उन्होंने कहा, "मेरे साथ चलने के लिए एक वचन देना होगा। मेरी कोई भी सेवा नहीं करोगे। मैंने यही प्रतिज्ञा जो की है!"

कंथक ने सिर झुकाकर कहा, "जैसी आपकी इच्छा।"

उसके वाद कितने ही दिन वीत गए। राजपुत्री प्रियंगुमंजरी के साथ कंथक एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ, एक स्थान से दूसरे

तक चलता रहा, चलता रहा...

ज्येष्ठ मास की अन्तिम रात्रि थी। चित्रकूट पहुँचकर उन्होंने राम के चरण-चिह्नों के दर्शन किए। मन-ही-मन प्रियंगुमंजरी ने सीता के-से सौभाग्य की कामना की और कंथक ने लक्ष्मण जैसा अनुचर बनने की।

रात को घनघोर घटाओं का गर्जन सुनकर राजपुत्री प्रियंगु-मंजरी एकाएक उठ बैठीं। साथ ही चौंककर कंथक भी उठ बैठा; बोला, "क्या हुआ, आर्या ?"

पसीने से भीगी राजपुत्री ने सिहरकर कहा, "सपना देख रही थी। कितना सुन्दर सपना! पर इन घटाओं ने सपने में भी सुख नहीं पाने दिया।" उन्होंने आँखें मूँदकर कहा, "देख रही थी कि मैं आरती का थाल सजाए बैठी हूँ और आर्यपुत्र धीरे-धीरे चले आ रहे हैं। पर उसी समय बादल गरज उठे और नींद टूट गई।"

कंथक चुपचाप बैठा उनकी आँखों से बहते आँसू देखता रहा।

भोर का सन्नाटा और गहरा हो गया था। झोपड़ी के खुले दरवाजे से आकाश पर उमड़ती-घुमड़ती घटाएँ दिखाई पड़ रही थीं और उनका मीठा गर्जन गूँज रहा था।

सहसा किसी का मीठा गम्भीर स्वर गूँज उठा, "अषाढ़स्य प्रथम दिवसे..."

स्वर गूँजा और गूँजता ही रहा। दोनों पर जैसे किसी ने जादू कर दिया हो। वे बाहर निकल आए। एक ठंडी-सी बूँद राजपुत्री प्रियंगुमंजरी के माथे पर गिरी और वह चिल्ला पड़ीं, "आर्यपुत्र!"

कंथक ने सिर हिलाते हुए कहा, "लगता है, वही हैं।"

पर राजपुत्री रामगिरि पर्वत की चट्टानों को लाँघती हुई उसी ओर दौड़ पड़ीं, जिधर से आवाज आ रही थी। पीछे-पीछे

कंथक दौड़ा।

काफी दूर ऊपर जाकर राजपुत्री एकाएक गिर पड़ीं। वहीं से उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। पास पहुँचकर कंथक ने भी देखा—ऊपर, चट्टान पर, नंगे वदन कालिदास बैठे हैं। कत्थई रंग के पत्थरों पर उनका गोरा शरीर बादल के ही एक टुकड़े की तरह अड़ा हुआ है। वह धीरे से फुसफुसाया, "मित्र !" उसने एक लम्बी साँस छोड़ी।

राजपुत्री ने उठकर आगे बढ़ने की चेष्टा की पर कंथक उनके सामने खड़ा हो गया; बोला, "नहीं, आर्या, नहीं। इस समय नहीं। अभी वह किसी को नहीं पहचानेंगे। वह भावलोक में खोए हुए हैं।"

प्रियंगुमंजरी के सामने मालिनी का उदास, आँसुओं से भीगा चेहरा घूम गया। उसने केवल इसीलिए तो अपना सुख छोड़ दिया था। वहीं चट्टान पर पसरकर आँखें मूँदे वह कवि की वाणी से झरता हुआ अमृत पीती रहीं। कालिदास का एक-एक शब्द अमृत की बूँद से भी अधिक मधुर था। वह गा रहे थे

"आषाढ़ के पहले ही दिन घिर आए बादलों को देखकर एक यक्ष उन्हें दूत बनाकर अपने देश अलकापुरी में बैठी अपनी पत्नी को सन्देश भेज रहा है। यक्षों के राजा कुबेर ने यक्ष को अलका-पुरी से एक वर्ष के लिए निकाल दिया है। व्याकुल यक्ष मेघदूत को अलका तक जाने का रास्ता बता रहा है…"

प्रियंगुमंजरी भावों में विभोर पड़ी सपना-सा देखती रहीं। आर्यपुत्र का भेजा हुआ दूत बादल का एक टुकड़ा उन्हें भी सन्देश सुना रहा है…

उसी दिन चुपचाप कालिदास के पीछे-पीछे जाकर कंथक उनकी कुटिया देख आया। कवि जब जी आता, उठकर पर्वत की उसी चट्टान पर जा बैठते और प्रियंगुमंजरी उनकी कुटिया सँवा-

रने में लग जातीं। वहाँ बिखरे भोजपत्रों को सँजोकर रखतीं। उनके लिए भोजन बनातीं। कवि की वाणी सुनने का मोह छोड़कर वह उनकी सेवा करने लगीं। भोजपत्रों को पढ़कर ही उन्हें रस मिल जाता। गर्व से उनकी आँखें चमकने लगतीं।

उस दिन कुटी के पीछे खड़ी-खड़ी वह छिद्र से झाँककर कवि का दर्शन करने का लोभ न छोड़ सकीं। भीतर वे बोल रहे थे—अकेले ही। जैसे कोई कुशल नट अकेले ही रंगमंच पर खड़ा होकर अभिनय कर रहा हो। वह कान लगाकर सुनने लगीं···

"कौन हो तुम ? यह मोह क्यों ? तुम मेरा सन्देश सुनकर कहीं मेरे पास ही तो नहीं चली आईं ?"

प्रियंगुमंजरी रो पड़ीं। भागकर वह अपनी झोपड़ी में धरती पर लोट गईं। कंथक चुपचाप बैठा देखता रहा। उनका दुख वह समझ रहा था, पर···

दूसरे दिन सवेरे उठते ही वह परिचित स्वर नहीं सुनाई पड़ा। दोनों कुछ देर प्रतीक्षा करते रहे। फिर राजपुत्री प्रियंगु-मंजरी धीरे-धीरे कुटिया की ओर चल पड़ीं। पीछे-पीछे कंथक भी था। उन्होंने छिद्र से झाँककर देखा। भीतर कोई नहीं था। दोनों भागे-भागे भीतर पहुँचे।

कुछ भी नहीं। बस, एक भोजपत्र नीचे पड़ा था। कंथक ने लपककर उसे उठा लिया ; पढ़ा :

"तुम्हें जानता नहीं, पर तुम जो भी हो, तुम्हें धन्यवाद !

राजपुत्री अचेत होकर धरती पर गिर पड़ीं।

चौदह

पूरे वर्षभर के एकान्तवास के बाद कालिदास जैसे फिर संसार में लौटे। फिर भी मन से वह अपने को स्थिर नहीं कर पाए थे। इस बीच वह लगातार मालिनी को खोजते रहे, पर कुछ पता नहीं चला था। उन्हें रह-रहकर मालिनी के शब्द याद आते थे। लगता, जैसे आँखों में आँसू भरकर सामने खड़ी मालिनी उन्हीं से कह रही हो, "तुम राजपुत्री प्रियंगुमंजरी को स्वीकार करो। मैं तो तुम्हें दुख ही देती रही, पर अब मेरी जगह वही तुम्हारी सेवा करेंगी। तुम जब चाहोगे, उनमें तुम्हें मालिनी ही दिखाई पड़ेगी"

कालिदास विचलित हो जाते। दोनों हाथों में मुँह छिपाकर वह प्रियंगुमंजरी की कल्पना करते। उन्हें सचमुच ऐसा लगता था कि वह मालिनी की तरह ही आँखों में आँसू भरकर सामने आ खड़ी हुई है...

पाटलिपुत्र! पता नहीं क्यों, उन्हें लगता था कि उन्हें पाटलिपुत्र पहुँचना ही चाहिए। वहीं जीवन है। जीवन वहीं मिलेगा। और वह पाटलिपुत्र की ओर बढ़े जा रहे थे।

मार्ग में कई समाचार मिले। सम्राट् समुद्रगुप्त की मृत्यु हो चुकी थी। उनकी जगह राजकुमार रामगुप्त राजा बन चुके थे और अब सबसे बड़ा संकट मगध पर यह छा गया था कि शकों की बहुत बड़ी सेना मगध की प्रजा को लूटती-रौंदती-कुचलती भीतर आ खड़ी हुई थी। युद्ध चल रहा था।

कालिदास को लगा कि जिस समय उन्हें प्रजा के बीच खड़े

होकर उसका साथ देना था, उस समय वह जंगलों और पहाड़ों में भटकते फिरे हैं। अभी पाटलिपुत्र दूर था। एक रात वह छोटे-से ग्राम में रुके हुए थे, तभी सहसा किसी ने सूचना दी कि मगध के सम्राट् रामगुप्त डर गए हैं। दुष्ट विदेशी आक्रमणकारियों से मगध के सम्राट् डर गए हैं ! सर्वनाश ! !

इतना ही नहीं, उन्होंने सुना कि शकराज ने संधि करने के लिए मगध की साम्राज्ञी देवी ध्रुवस्वामिनी को उपहार के रूप में माँगा है। सुनकर कालिदास का खून खौल उठा। वह अकेले ही तुरन्त पाटलिपुत्र की ओर बढ़ चले। नीच शकराज का यह साहस ! उन्होंने प्रतिज्ञा की—पाटलिपुत्र पहुँचकर वह जन-जन में आग फूँक देंगे। ऐसा स्वर जगाएँगे कि देश का अपमान करने वाले शकराज की जीभ काट ली जाए। राजा पिता है तो रानी माता। माता का अपमान करने वाले को दण्ड देना ही होगा।

पाटलिपुत्र में प्रवेश करते ही वह चौंक पड़े। चारों ओर सन्नाटा छाया था। मौत का सन्नाटा। बहुत पूछने पर लज्जा से आँखें झुकाए हुए एक व्यक्ति ने बताया, "सम्राट् की आज्ञा से महारानी को शकराज के पास उपहार बनाकर भेज दिया गया।"

"और तुम ? यह सब देखने के पहले तुम्हारी आँखें फूट नहीं गईं ?"

उस व्यक्ति ने सिर झुका लिया; बोला, "महाराजकुमार चन्द्रगुप्त, आर्य हरिषेण और स्वयं महारानी ने बहुत विरोध किया पर सम्राट् की आज्ञा कौन टाल सकता था ?"

कालिदास को लगा कि पाटलिपुत्र श्मशान बन चुका है। उन्होंने पूछा, "आर्य हरिषेण कहाँ हैं ?"

उत्तर मिला, "महारानी को लेकर आर्य चन्द्रगुप्त के साथ वह भी सन्धि करने के लिए युद्ध-क्षेत्र की ओर गए हैं।"

क्षणभर के लिए कालिदास पथरा गए, फिर उन्होंने आँखें खोलीं। वह व्यक्ति जा चुका था। उन्होंने पाटलिपुत्र की ओर से मुँह फेर लिया। इस श्मशान में रहकर करना ही क्या है ? वह बिना सोचे-समझे राजमार्ग पकड़कर एक ओर चल पड़े। चलते गए, चलते गए। सूर्य सिर पर चमकने लगा ; फिर ढला और डूब गया। संध्या आई, चली गई। रात ·· गहरी अँधेरी रात। पर कालिदास चले जा रहे थे। पाँव लहूलुहान हो गए। पर उन्हें जरा भी पीड़ा नहीं जान पड़ती थी। जैसे सारा शरीर पत्थर का हो गया हो।

भोर का तारा तेजी से चमक उठा। उसी समय अचानक बाजों की आवाज सुनाई पड़ी। घोड़ों की टापें गूँज रही थीं, जयजयकार हो रहा था। हाथियों के चिंघाड़ने की आवाज सुनाई पड़ रही थी। एक विचित्र कोलाहल हो रहा था, जिसमें हजारों स्वर मिले हुए थे। सामने से सेना आ रही थी।

छिः ! अपने माथे का तिलक और कुल की लक्ष्मी को देकर लौटने वाली सेना। कालिदास पथ से हट गए और एक पेड़ के तने से पीठ टिकाकर बैठ गए। सामने से हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकों के झुंड-के-झुंड पाटलिपुत्र की ओर जा रहे थे। उनके चेहरों पर हँसी थी और स्वर में उल्लास।

कालिदास धरती की ओर देखने लगे। अपमान का यह दृश्य दखने से पहले वह पृथ्वी में क्यों न समा गए ?

"मित्र !"

कालिदास ने सिर उठाया ! कंथक खड़ा था। वह पागल की तरह उसकी ओर ताकते रहे—जैसे उसे पहचानते ही न हों।

कहीं निकट ही जोर से शंख की आवाज गूँज उठी। साथ ही जयकार हुआ, "महापराक्रमी चन्द्रगप्त की जय हो !"

झपटकर कालिदास ने कंथक के कंधे पकड़ लिए और उसे झिंझोड़ डाला; बोले, "जय, जय, जय ! तू भी यह देखता रहा, कंथक ? यह जय-जयकार सुनकर तेरे कान नहीं फट जाते ? उस विदेशी पशु के हाथों अपने देश की लक्ष्मी सौंपकर अपनी जय-जयकार कराने के पहले कुमार चन्द्रगुप्त ने सिर कटा लिया होता तो मैं भी जय-जयकार करता ।"

कंथक धीरे से हँस पड़ा ।

कालिदास काँप उठे । उन्हें लगा, जैसे कंथक की हँसी विष में बुझी हो । वह तेजी से घूमकर चल पड़े पर सहसा ठिठक गए । सामने ही आर्य हरिषेण और राजकुमार चन्द्रगुप्त खड़े थे ।

आर्य हरिषेण ने कहा, "तुम्हारा यही रूप देखने के लिए मेरी आँखें प्यासी थीं, कालिदास! धरती पर जब तक पराक्रमी चन्द्रगुप्त जसे योद्धा हैं, तब तक हमारे और तुम्हारे सपने पूरे होते रहेंगे..."

"और तब तक आर्य हरिषेण जैसे विद्वान् शत्रु को अपनी राजलक्ष्मी...अपनी पत्नी सौंपकर संधि करने वाले पराक्रमी योद्धाओं का गीत गाते रहेंगे !" कालिदास ने जहर उगलते हुए कहा, "पेट भरने के लिए चारणों की तरह चाटुकार बन जाना भी तो पराक्रम है !"

आर्य हरिषेण पहली बार ठहाका लगाकर हँसे; बोले, "वह कवि ही कैसा, जिसकी वाणी में आग न हो ? कालिदास, प्रसन्न हो जाओ ! जिस तरह तुम्हारे नाटक में उर्वशी का हरण करके भागने वाले केशी दैत्य का वध करके राजा पुरुरवा ने उर्वशी का उद्धार किया था, उसी प्रकार वीर चन्द्रगुप्त ने शकराज को मारकर देवी ध्रुवस्वामिनी की रक्षा की है । देवी ध्रुवस्वामिनी का रूप धारण करके महाराजकुमार ही शकराज से मिले और उसके शिविर में ही उसका वध कर दिया ।"

कालिदास पलभर के लिए सन्नाटे में आ गए, फिर उन्होंने दौड़कर चन्द्रगुप्त को छाती से लगा लिया।

आर्य हरिषेण ने बताया, "इतना ही नहीं, आर्य चन्द्रगुप्त के एक सामन्त अनुचर ने राजलक्ष्मी का अपमान करने वाले कायर रामगुप्त का भी वध कर दिया। शकराज के मारे जाने पर वह फिर ध्रुवदेवी को पाना चाहता था। जैसे, हिरण्याक्ष दैत्य पृथ्वी को चुकाकर पाताल में जा छिपा था। पर चन्द्रगुप्त ने वाराह भगवान की तरह अपने बाहुबल से पृथ्वी जैसी ध्रुवदेवी का उद्धार किया।"

कालिदास ने प्रसन्न होकर कहा, "आर्य चन्द्रगुप्त के विक्रम से आपने मेरे नाटक के नायक पुरुरवा की तुलना की है। आज मैं अपने उस नाटक का नामकरण करता हूँ--विक्रमोर्वशीयम्।"

चन्द्रगुप्त ने कहा, "मैं धन्य हुआ, कविवर !"

और उनके शंखनाद के साथ-साथ कवि कालिदास का जय-जयकार भी गूँज उठा।

पन्द्रह
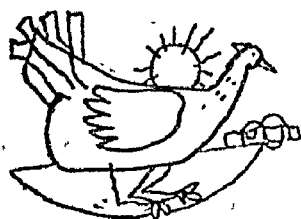
पाटलिपुत्र में चारों ओर प्रसन्नता की लहरें उठ रही थीं। चन्द्रगुप्त का राजतिलक हो गया। राजमाता की आज्ञा से देवी ध्रुवस्वामिनी ने पवित्र मन से उन्हें पति मान लिया।

जिसने जो कुछ भी चाहा, उसे मिला। उस शुभ अवसर पर 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक खेला गया।

अभिनय समाप्त होने पर सब झूम उठे। हर व्यक्ति के होंठों पर एक ही नाम था—कालिदास।

कालिदास महान् हैं। ऐसा नाटक और ऐसा अभिनय न देखा था, न सुना था।

कालिदास तब भी एकान्त में बैठे पता नहीं क्या सोचे जा रहे थे। स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त महारानी ध्रुवस्वामिनी के साथ उनके सामने आ खड़े हुए।

कालिदास ने अचरज से कहा, "सम्राट् !"

"हाँ, मित्र ! आज तुम्हें कुछ देने आया हूँ।"

"देने ?" कालिदास के चेहरे पर तनाव छा गया।

सम्राट् हँसे। उन्होंने कहा, "नहीं-नहीं, सबको सब-कुछ दे सकता हूँ पर तुम्हारे लिए तो मेरा सब-कुछ देना भी कुछ नहीं के समान है। मैं तो तुम्हें तुम्हारी ही वस्तु देने आया हूँ। लो !"

कालिदास चौंक उठे। सम्राट् की हथेली पर बिना नग की एक अँगूठी चमक रही थी। कालिदास ने उसे उठा लिया। कुछ देर अपलक उसे देखते रहे, फिर धीरे से बुदबुदाए, "प्रि-यं-गु-मं-ज-री !" और जैसे थककर धम् से आसन पर बैठ गए।

पास ही बैठकर सम्राट् ने कहा, "मित्र ! मैं इसके बदले में तुमसे कुछ लेना चाहता हूँ, दोगे ?"

कालिदास ने धीरे से कहा, "सम्राट्, मुझसे माँग रहे हैं ? मेरा सब-कुछ आपका ही तो है। क्या चाहिए ?"

"मैंने सबको बहुत-कुछ दिया, पर अभी धरती पर एक व्यक्ति ऐसा है जिसे देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं था। वही तुमसे माँगने आया हूँ।"

"मेरे पास ऐसी कौन-सी वस्तु है, सम्राट् ?"

"तुम स्वयं हो, मित्र !" सम्राट् ने मुस्कराते हुए कहा।

कालिदास ने कहा, "तो मुझे दान कर दो, आर्य ! धरती का पालन करने वाला राजा धरती का स्वामी है। इसी कारण मैं भी आपका हूँ। जिस दिन देखूँगा, आपके राज्य में एक भी व्यक्ति दुखी है, उस दिन आपका नहीं रहूँगा।"

सम्राट् ने कालिदास का हाथ पकड़कर खड़े होते हुए कहा, "मैं स्वीकार करता हूँ।"

"तो मेरा दान कर दो !"

"दान किया !" सम्राट् ने द्वार की ओर पुकारा, "कंथक !"

कालिदास चौंके; बोले, "कंथक का तो मैं सदा से रहा। आज उसे दान लेने का मोह कैसे जग गया ?"

महारानी हँसकर बोलीं, "दान उसे नहीं लेना है, कवि ! वह तो साक्षी है। दान लेने का अधिकारी कोई और है, जो अकेले ही चित्रकूट तक जाकर तुम्हारी सेवा करके तपस्या करती रही, फल उसे ही मिलेगा।"

"वह कौन है, महादेवि ? आप जानती हैं उसे ?"

"कविवर, वह स्वयं आर्या प्रियंगुमंजरी ही थीं…"

"प्रि-यं-गु-मं-ज-री ?"

सम्राट् ने आज्ञा दी, "कंथक, कवि को मार्ग दिखाओ !"

कंथक के पीछे-पीछे चलते समय कालिदास को हँसी सूझी। राजभवन से थोड़ा ही हटकर लता-कुंजों से घिरा एक छोटा-सा भवन था। कंथक ने कवि को उसके द्वार पर ला खड़ा किया और प्रणाम करके विदा हो गया।

कालिदास ने द्वार पर थपकी देकर कहा, "मैं चरवाहा नहीं, कवि कालिदास हूँ। आर्यपुत्री, द्वार खोलो!"

पलभर तक चुप्पी छाई रही। कालिदास को आश्चर्य हुआ। प्रियंगुमंजरी कहीं इस व्यंग्य के कारण दुखी तो नहीं हो गई। तभी भीतर से प्रियंगुमंजरी का मीठा स्वर गूंजा, "अब क्या विद्वान् होकर लौटे हो?"

कवि खिलखिलाकर हँस पड़े। तुरन्त ही द्वार खुला और आर्या प्रियंगुमंजरी दौड़कर उनके चरणों पर गिर पड़ीं; बोलीं, "मुझे क्षमा कर दिया, आर्यपुत्र?"

कालिदास हँसे, "क्षमा कैसे करूँ? मैं तो दान की वस्तु हूं।" उन्होंने प्रियंगुमंजरी को उठाकर खड़ा कर दिया।

दो क्षण बाद प्रियंगु ने कहा, "तो अब मैं अपनी ओर से तुम्हें फिर मुक्त कर देती हूँ। आर्यपुत्र का सुख ही मेरा सुख है।"

कालिदास ने कहा, "मैं तुम्हारी चतुरता से प्रसन्न हूँ। तुम्हें वरदान देता हूँ, कपाट खोलने के पहले तुमने संस्कृत के तीन शब्द कहे हैं, अस्ति, कश्चित् और वाग्...कश्चित् से प्रारम्भ करके मैं 'मेघदूत' की रचना कर चुका हूँ। अब शेष दो शब्दों से प्रारम्भ करके मैं एक-एक काव्य और लिखूँगा।"

प्रियंगुमंजरी ने फिर से झुककर उनके चरणों की धूल माथे से लगा ली; बोली, "मैं धन्य हुई!"
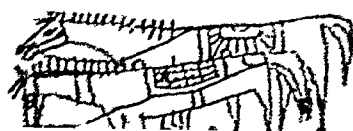
सोलह

वर्ष-पर-वर्ष बीतने लगे।

इस बीच कुमार चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व धीरे-धीरे प्रबल होता गया। सम्राट् समुद्रगुप्त ने एक दिन जो स्वप्न देखा था, उस पर रामगुप्त की कायरता ने अँधेरा पोत दिया था। शासन चन्द्रगुप्त के हाथों आते ही जैसे चारों ओर उजाला छा गया और उस उजाले में समुद्रगुप्त का सपना साकार होने लगा।

चन्द्रगुप्त के प्रताप से अत्याचार, अन्याय और अधर्म के पैर उखड़ गए। दूर-दूर तक उनका यश फैल गया। अकेला मगध ही नहीं, आस-पास के सामन्त राज्य भी वैभव से भरपूर हो गए।

सम्राट् चन्द्रगुप्त केवल कुशल सेनापति ही नहीं थे, अपने महान पिता की तरह वह कला और संस्कृति के भी उपासक थे। कलाकारों और विद्वानों का आदर करना उनका स्वभाव था। कालिदास, आचार्य वराहमिहिर, वररुचि, आर्यभट्ट, विशाखदत्त, अमरसिंह, धन्वन्तरि आदि नवरत्न उनकी राजसभा में जगमगाते रहते थे। एक ओर वराहमिहिर नक्षत्रों का अध्ययन करके ग्रहण के वैज्ञानिक सिद्धान्तों की खोज कर रहे थे, दूसरी ओर आर्यभट्ट ने अपने शंकु आदि छोटे-छोटे यन्त्रों के सहारे पूरी पृथ्वी का नाप बता दिया था। काव्य, मूर्तिकला, गणित आदि हर क्षेत्र में क्रान्तिकारी कार्य हो रहे थे।

सम्राट् की ओर से सबका आदर समानभाव से होता था। महारानी ध्रुवस्वामिनी भी सम्राट् की भाँति ही सबका सम्मान करती थी। कुल एक सप्ताह पहले ही कवि कालिदास का 'माल-

विकाग्निमित्र' नाटक खेला गया था। सम्राट् ने वधाई दी। महारानी ने देवी प्रियंगुमंजरी से कहा, "आर्ये! आपके सौभाग्य से ईर्ष्या होती है। स्वयं वाणी के पुत्र कवि कालिदास का सम्पर्क सौभाग्य से भी वढ़कर है।"

धीरे से मुस्कराकर देवी प्रियंगुमंजरी ने कहा, "महारानी का कल्याण हो, लेकिन सच कहूँ, आर्यपुत्र इससे भी वड़े हैं, वहुत वड़े।"

थोड़ी ही दूर पर खड़े कवि कालिदास ने चौंककर उनकी ओर देखा। सम्राट् खिलखिलाकर हँस पड़े; वोले, "क्या हुआ, मित्र! तुम्हें देखकर कहीं देवी प्रियगुमंजरी को वर्षों पहले का चरवाहा न याद आ जाए।"

कवि की ओर थोड़ी देर तक देखती रहकर देवी प्रियंगु-मंजरी हँसीं। सचमुच, पता नहीं क्यों कवि इस समय भी मूढ़ों की तरह अवाक् उनकी ओर देखे जा रहे थे। वह समझ गईं कि उनकी वात कवि को चुभ गई है। फिर भी महाराज को उत्तर तो देना ही होगा; वोलीं, "अपराध क्षमा हो, अव तो कवि की दशा और भी विगड़ गई है। अभी-अभी देखा है कि अव पशुओं की जगह मनुष्य ही उनके संकेत पर नाचने लगे हैं।"

महाराज और महारानी एक साथ हँसे। वड़ी चतुरता से प्रियंगुमंजरी ने उन्हें पशु कह दिया था।

आज एक सप्ताह वीत गया। कालिदास पता नहीं क्यों गुम-सुम रहते हैं। खाने-पीने, सोने-जागने, उठने-वैठने का कोई नियम ही नहीं रह गया। कारण देवी प्रियंगुमंजरी जानती हैं, पर कवि को इस तरह दुखी देखना उन्हें अच्छा नहीं लगता। साँझ को कुंज में अकेले वैठे कालिदास के पास जा खड़ी हुईं और मुस्कराकर वोलीं, "चरवाहा!"

कवि कालिदास जैसे कुछ समझे ही नहीं; अपलक उनकी

श्रोर देखते रह गए ।

"चरवाहे ही तो रहते हैं इस तरह ! आपको क्या हो गया है, आर्यपुत्र ?"

कालिदास ने गम्भीर स्वर में कहा, "मालविकाग्निमित्र तुम्हें अच्छा नहीं लगा न ?"

प्रियंगुमंजरी हँसीं; बोलीं, "क्या कहते हैं आप ? कितने बड़े-बड़े आचार्य, कलाकार, स्वयं सम्राट् और पाटलिपुत्र के नागरिक उसे देखकर झूम उठे, मेरी गिनती ही क्या है ?"

"मैं यह नहीं पूछ रहा हूँ, प्रियंगु ! तुम उससे सन्तुष्ट नहीं हो न ?"

"आप जैसे महान् कलाकार की पत्नी यदि उस साधारण-सी रचना से सन्तुष्ट हो जाए तो आपका अपमान नहीं होगा, आर्यपुत्र ?"

कालिदास हँस पड़े ; बोले, "तुम कितनी चतुर हो, देवि ! तुम पर देवी वाणी का आशीर्वाद है ।"

"मैं धन्य हुई !" कहकर प्रियंगुमंजरी ने कालिदास के चरणों पर माथा रख दिया ।

उसके बाद और कई मास बीत गए । कालिदास इधर बहुत एकान्त-प्रेमी हो गए थे । सुबह-शाम कभी नदी के तट पर घूमते रहते और कभी लताओं के कुंजों में यों ही घास पर पड़े पता नहीं क्या-क्या सोचा करते । कभी-कभी सम्राट् और महारानी का बुलावा आ जाता । दो-तीन बार स्वयं सम्राट् ही उन्हें खोजते हुए रथ पर आए । पर कवि का दर्शन नहीं हुआ । कंथक भी अवसर खोजकर उनके पास आता, किन्तु कालिदास पता नहीं क्यों, पहले की तरह खुलकर बात नहीं कर पाते थे ।

देवी प्रियंगुमंजरी उनकी उदासी देखकर बहुत दुखी होतीं पर उसके साथ-ही-साथ अपने मन को भी समझातीं । कवि

कालिदास किसी छोटी-सी सीमा में बन्द होकर नहीं रह सकते। उनके लिए सारे विश्व का प्रसार भी कम है। महारानी सच कहती हैं, ऐसे महान् पुरुष का सम्पर्क सौभाग्य से भी बढ़कर है।

और एक दिन कालिदास सारे नियम तोड़कर साँझ को ही सो गए। प्रियंगुमंजरी ने कई बार उन्हें जगाने की चेष्टा की, पर उनकी नींद न टूटी। दूसरे दिन प्रियंगुमंजरी चिन्तित हो गईं। ब्रह्म-वेला बीत गई, भोर भी हुई, उषा की लाल किरणें फैलीं और धीरे-धीरे सूर्य के चमकीले प्रकाश में खो गईं। फिर भी कालिदास नहीं उठे। दोपहर हुई। सूर्य ढलने लगा। तीसरा पहर भी बीत गया और आखिर साँझ फिर से घिरने लगी। देवी प्रियंगुमंजरी व्यग्र होकर द्वार पर खड़ी कवि के जगने की प्रतीक्षा करती रहीं। कितने ही लोग आ-आकर लौट चुके थे। प्रियंगुमंजरी ने किसी को आर्यपुत्र की निद्रा में बाधा नहीं डालने दी।

पता नहीं कब किधर से कंथक ने आकर उन्हें प्रणाम किया, "आर्या की जय हो!"

थोड़ी देर चुप्पी छाई रही। कंथक ने चकित होकर कहा, "अँधेरा घिर आया है, अभी तक देवी ने प्रकाश करने की आज्ञा नहीं दी।"

"डरती हूँ, कहीं आर्यपुत्र जग न जायँ!" प्रियंगुमंजरी का स्वर गीला था।

"कल्याण हो, कंथक!" पीछे से सहसा कवि का प्रसन्न स्वर सुनाई पड़ा। उन्होंने आर्या के कंधे पर हाथ रखकर कहा, "तुम सबको बड़ा कष्ट हुआ, प्रियंगु! मैं क्षमा चाहता हूँ।"

भीतर बुलाकर उन्होंने कहा, "लो, इसे देखो, तब तक मैं स्नान-संध्या करके आता हूँ।"

पता नहीं कितनी देर लग गई। कालिदास ने लौटकर देखा—
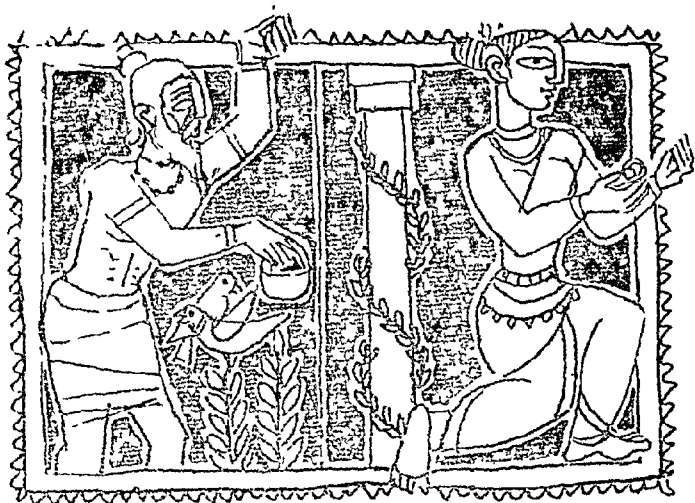
प्रियंगुमंजरी ने अंतिम पृष्ठ पढ़कर समाप्त ही किया है। पर कोई भी बोला नहीं। दोनों भावविभोर-से बैठे रहे।

कवि ने पूछा, "अच्छा नहीं लगा ?"

प्रियंगुमंजरी ने लजाते हुए कहा, "आर्यपुत्र बड़े स्वार्थी हैं। मेरी उस नन्हीं-सी अँगूठी से इतना बड़ा मूल्य लिया है ?"

कवि खिलखिलाकर हँस पड़े; बोले, "सचमुच प्रियंगु, उस दिन सम्राट् ने अँगूठी दी, तो देखते ही तुम्हारी याद आ गई थी। तभी सोचा था कि कहीं-न-कहीं इसका उपयोग अवश्य करूँगा।"

कंथक ने कवि को प्रणाम करते हुए कहा, "इसीलिए 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' अमर रहेगा, देव ! इस अँगूठी के साथ आर्या की पीड़ा और साधना जुड़ी हुई है। इसी अँगूठी ने महाभारत के दुष्यन्त जैसे लम्पट राजा का चरित्र बदल दिया है।"

"सच, प्रियंगु, इस अँगूठी की प्रेरणा से ही मैंने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की रचना की है। मुझे महाभारत का दुष्यन्त बड़ा कठोर लगता है। उसके साथ न्याय नहीं किया गया। शकुन्तला जैसी सरल युवती से विवाह करके भी वह उसे भूल गया, यह कितना विचित्र लगता है। वह मनुष्य नहीं रहा होगा।"

प्रियंगु हँसीं, "और आर्यपुत्र ने उसे मनुष्य बनाया है।"

"हाँ, इस नाटक में राजा दुष्यन्त साधारण मनुष्य की तरह सुख और दुख से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं।" कंथक ने प्रशंसा-भरी दृष्टि से देखा, "कितनी अद्भुत रचना है ! सारा संसार इसे पढ़कर दाँतों तले अँगुली दबा लेगा।"

कालिदास ने कहा, "हाँ, मैंने कल्पना की कि राजा की अँगूठी देखने में मग्न शकुन्तला ऋषि दुर्वासा का आदर नहीं कर सकी, इसीलिए उन्होंने शाप दे दिया था। इसके कारण राजा दुष्यन्त उसे भूल गया और अँगूठी देखते ही उसे फिर शकुन्तला याद आ गई।"

प्रियंगुमंजरी ने कहा, "पढ़कर मुझे विश्वास ही नहीं आ रहा था कि 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' जैसा नाटक कोई मनुष्य लिख सकता है। देवों की कृपा।"

कवि हँस पड़े; बोले, "और देवी की कृपा हो जाए, तो इस कंथक को भी कुछ प्रसाद मिले और मुझ ब्राह्मण के पेट में भी कुछ..."

"अरे, मैं तो इस नाटक से विभोर होकर सब-कुछ भूल बैठी थी।" लाजभरी हँसी हँसती हुई देवी प्रियंगुमंजरी भोजन का प्रबन्ध करने के लिए चल दीं।

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के कारण कवि कालिदास का यश पाटलिपुत्र और मगध तक ही सीमित नहीं रहा। समुद्रों के उस पार से आने वाले विदेशी व्यापारियों, ज्ञान के जिज्ञासु पंडितों और दूतों के माध्यम से उनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई।

सम्राट् चन्द्रगुप्त ने इस बीच अपने बाहुबल से भारत की धरती पर अड़े विदेशियों को उखाड़ फेंका। वाकाटक-नरेश रुद्रसेन से अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह करके उन्होंने एकाधिराज्य स्थापित किया और उस ओर मालव में धँसकर शकों को खदेड़ दिया। इस अवसर पर प्रजा ने अपने सम्राट् को 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' की उपाधि दी। उनके सांधिविग्रहिक साव-वीरपेण ने उदयगिरि में लेख लिखवाकर सम्राट् की कीर्तिगाथा को अमर कर दिया—'सारे जगत की विजय की इच्छा करने वाले' राजा ने इधर से ही यात्रा की थी।

'सिंहविक्रम' चन्द्रगुप्त के प्रताप के कारण साम्राज्य में सुख और शान्ति छा गई। कोई भूखा नहीं रहा। किसी को कोई अभाव नहीं। चारों ओर उल्लास-ही-उल्लास छा गया।

उन्हीं दिनों नाट्याचार्यों ने कई मास तक प्रयास करके पहली बार राजकीय रंगमंच पर कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' प्रस्तुत किया। उस मंच पर केवल उन्हीं नाटकों का अभिनय किया जाता था, जिनकी श्रेष्ठता को कोई चुनौती न दे सके। सम्राट् को 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की सफलता पर पूरा विश्वास था। बड़े-बड़े विद्वान्, कलाकार और पंडित भी आमं-

और सबसे अद्भुत प्रसंग यह था कि उस दिन पंडित-सभा ने देवी प्रियंगुमंजरी को समारोह की अध्यक्षता सौंपी थी।

नाटक खेला गया। दर्शक चकित, विभोर बैठे रहे, जैसे किसी ने जादू के बल से उन्हें बाँध लिया हो।

अभी नाटक का अन्तिम अंश 'भरतवाक्यम्' समाप्त भी नहीं हुआ था कि सम्राट् व्यग्र हो उठे। यवनिका गिरते ही उन्होंने दौड़कर कवि को गले से लिपटा लिया; बोले, "तुम्हारा सम्पर्क पाकर हम सबको गर्व है। तुम कविकुलशिरोमणि हो, महाकवि हो, कालिदास!"

"कविकुलशिरोमणि कालिदास की जय!" दर्शकों के बीच से जैसे बाँध तोड़कर बहते हुए अपार जल के गर्जन की तरह कवि का जय-जयकार गूँज उठा।

थोड़ी देर बाद शान्ति हुई तो लोगों ने देखा—पंडितों की पंक्ति में आचार्य चन्द्रकेतु खड़े हँस रहे हैं।

अध्यक्षा आर्या प्रियंगुमंजरी ने सादर कहा, "आचार्य कुछ कहना चाहते हैं?"

"हाँ, अवश्य कहना चाहता हूँ। इन तुच्छ नाटकों और शृंगाररस की थोड़ी-सी कविताओं के रचयिता को कविकुल-शिरोमणि कहना पूर्वजों का अपमान है, महाराज!"

रंगशाला में सन्नाटा छा गया। किसी को कल्पना तक न थी कि आचार्य चन्द्रकेतु सहसा इस प्रकार कवि कालिदास का अपमान कर देंगे।

देवी प्रियंगुमंजरी ने पूछा, "सम्राट् कुछ कहना चाहते हैं?"

सम्राट् चन्द्रगुप्त ने उठकर सम्मानपूर्वक कहा, "मैंने किसी का अपमान करने के लिए यह सब नहीं कहा है। नाटक देखकर हर साधारण दर्शक की तरह मैं भी भावावेश में आ गया। मुझे आश्चर्य है कि इतनी श्रेष्ठ रचना को आचार्य चन्द्रकेतु तुच्छ

मानते हैं। फिर भी यदि मेरे शब्दों से किसी का अनादर हुआ हो, तो मैं क्षमा चाहता हूँ।"

दूसरी पंक्ति में बैठे नाट्याचार्य ने उठकर कहा, "सम्राट् ने किसी का अपमान नहीं किया है। कवि कालिदास महाकवि अश्वघोष जैसे वाणी के वरद पुत्रों के समान ही पूजनीय हैं।"

आचार्य चन्द्रकेतु ने विरोध किया, "अपना भ्रम कवि कालिदास पर लादने में कवि का कल्याण नहीं। क्या लिखा है कालिदास ने ? उन्हें सम्राट् का प्रसाद प्राप्त है, इसी कारण कोई भी व्यक्ति जो चाहता है कहता है। मेरा यह स्वभाव नहीं। महाराज की कृपा के कारण ही यह नाटक इस मंच पर खेला गया। क्या पंडितसभा ने इसे अनुमति दी थी ?"

नाट्याचार्य ने कहा, "नहीं, किन्तु सूर्य को देखने के लिए दीपक की आवश्यकता नहीं। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' श्रेष्ठ है, किसी के कहने पर ही उसे श्रेष्ठ समझा जाए, यह तो रूढ़िवादिता है।"

"आप पंडितों का अपमान कर रहे हैं। कुछ व्यक्तियों को प्रसन्न करने के लिए अनुचित कार्य करना आपको शोभा नहीं देता। इस मंच पर केवल महाकवियों के नाटक ही प्रस्तुत किए जाते हैं। और कालिदास झूठे यश के कारण अपने को भूल बैठे हैं। 'मालविकाग्निमित्रम्' और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' जैसे राजाओं का मनोरंजन करने वाले नाटक लिखकर उन्हें वैभव मिल सकता है, मिला भी है। उसमें डूबकर वह तो महाकाव्य की कल्पना तक नहीं करते।"

नाट्याचार्य हँस पड़े; बोले, "आप परंपरा और रूढ़ि में बँधे हैं। आपको सूर्य और चन्द्रमा के लिए भी प्रमाण चाहिए। कालिदास की श्रेष्ठता के लिए आपको पंडितों के हस्ताक्षर चाहिएँ, पर कला-प्रेमियों के लिए इसकी कोई आवश्यकता नहीं।

कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' श्रेष्ठ है और श्रेष्ठ रहेगा। मेरी दृष्टि में किसी को प्रसन्न करने के लिए कवि कभी कोई रचना नहीं करता। वह रचता है जब रचने की इच्छा होती है। वह लोकहित के लिए ही सब-कुछ करता है, क्योंकि उसका हृदय कला के प्रभाव से उदार और कोमल होता है। आज कालिदास ने एक महान् नाटक की रचना की है, कल इच्छा होगी तो महा-काव्य भी रचेंगे।"

आचार्य चन्द्रकेतु ने कटु होकर कहा, "कालिदास की रक्षा के लिए और सम्राट् की प्रसन्नता के लिए कोई कुछ भी कहे, मैं जो सच है, वही कहूँगा। आप लोग भले ही उन्हें महाकवि अश्वघोष का समकक्ष मानें, मैं इसे कभी स्वीकार नहीं करूँगा। आज की अध्यक्षा आर्या प्रियंगुमंजरी स्वयं विदुषी हैं। वही निर्णय करें।"

बड़ी देर तक कोई कुछ नहीं बोला। सबकी आँखें आर्या प्रियंगुमंजरी पर टिकी रहीं। अन्त में महारानी ध्रुवस्वामिनी ने अनुरोध किया, "आर्या निर्णय दें!"

देवी प्रियंगुमजरी ने कहा, "पाटलिपुत्र की पंडित-सभा ने जो नियम बनाए हैं, बिना किसी कारण उनका उल्लंघन करना ठीक नहीं। फिर जो कुछ श्रेष्ठ है, उसे किसी के भी सामने रखने में संकोच कैसा? सम्राट् ने क्षमा-याचना कर ही ली है। हमें भी उदारतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए कि वह किमी का अपमान नही करना चाहते थे। हाँ, उनमें मित्र के लिए मोहावेश अधिक है।" वह थोड़ी देर रुककर कवि कालिदास की ओर देखती रहीं। कवि की आँखों में उन्हें उत्कण्ठा की कौंध दिखाई पड़ी जैसे वह व्यग्र होकर निर्णय की प्रतीक्षा कर रहे हों। प्रियंगु-मंजरी ने उधर से दृष्टि हटाकर आचार्य चन्द्रकेतु को देखते हुए कहा, "और हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि आचार्य

चन्द्रकेतु भी हर व्यक्ति की तरह कवि का हित चाहते हैं। यदि आर्यपुत्र महाकाव्य की रचना करके सम्राट् की वाणी को सत्य सिद्ध करें, तो सम्राट् और आर्य चन्द्रकेतु की भाँति ही मुझे भी अपार प्रसन्नता होगी। मुझे विश्वास है, कवि कालिदास आर्य चन्द्रकेतु को निराश नहीं करेंगे।"

निर्णय स्पष्ट ही आचार्य चन्द्रकेतु के पक्ष में था। उन्होंने हाथ उठाकर कहा, "देवी का कल्याण हो ! जिस दिन कालिदास महाकवि होंगे, मैं उनकी वन्दना करूँगा ·"

उनके चेहरे से विजय का तेज टपक रहा था।

सभा में सन्नाटा छा गया। उत्तर किसी के पास न था। कालिदास चुपचाप उठकर चले गए।

सच ही तो है। वह सब-कुछ करते रहे। प्रजा के हित के लिए राजा की आज्ञा से कुन्तल आदि देशों तक दूत बनकर भी घूम आए। राजा और प्रजा का हित हुआ। लोग उन्हें और भी प्यार करने लगे। पर इसी कारण वह महाकवि तो नहीं हैं ! उन्हीं दिनों महारानी ध्रुवदेवी को एक पुत्र पैदा हुआ। कवि कालिदास ने आशीर्वाद दिया, "देवि ! आपका पुत्र देवताओं के सेनापति कुमार स्कन्द की तरह बली हो !"

महादेवी ने कहा, "तो इसका नाम कुमारगुप्त ही रहा, आर्य !"

वहाँ से लौटे तो कालिदास के मन में लगातार कुमार स्कन्द का चरित्र उमड़ने लगा। भगवान शंकर के वीर पुत्र कुमार कार्तिकेय · कुमार स्कन्द···कुमार कार्तिकेय

और उसी दिन कवि ने एक महाकाव्य की रचना आरम्भ कर दी—'कुमारसंभव।'

वह लिखते रहे, लिखते रहे। रात-दिन का ध्यान नहीं। खाने-पीने की सुधि नहीं। सोने-जगने का अवकाश नहीं।

देवी प्रियंगुमंजरी चिन्ता में पड़ गई। कवि का शरीर सूखता जा रहा है, पर इस बार कालिदास के पास जाने का साहस उन्हें भी नहीं होता। राजसभा में आचार्य चन्द्रकेतु के अपमानजनक शब्दों को उन्होंने भी सुना था। वह जानती हैं, कवि के हृदय पर चोट लगी है। इस बार उन्हें छेड़ना ठीक नहीं। अब किसी-न-किसी महाकाव्य की रचना होकर रहेगी।

सहसा एक दिन कवि की अँगुलियों की ओर देखकर देवी प्रियंगुमंजरी चौंक उठीं। सम्राट् ने भी सुना, उन्हीं के कहने पर कवि ने राजवैद्य को परीक्षा करने दी और राजवैद्य ने घोषणा कर दी, "कवि कालिदास को कोढ़ हो गया!"

समाचार पलक झपकते चारों ओर फैल गया। सुनकर भरी सभा में आचार्य चन्द्रकेतु ने कहा, "कोढ़ तो होगा ही! देवी पार्वती ने उसे शाप दे दिया। जगत की जननी पार्वती और भगवान शंकर को पात्र बनाकर उसने जो अश्लील वर्णन किया है, उससे विलासी लोग भले ही प्रसन्न हों, देवता तो कोप ही करेंगे। हुँः, महाकाव्य लिखकर महाकवि बनेंगे!"

अपमान, अपमान, अपमान!

पर कालिदास विवश थे। सम्राट्, देवी प्रियंगुमंजरी और मित्र कंथक के कारण उन्हें चुपचाप एकान्तवास करना ही पड़ा। औषधि चलती रही। औषधि से बढ़कर प्रियंगुमंजरी और कंथक की आँखों में झलकता प्यार था।

वर्ष बीत गया। और भी कई मास बीत गए। 'कुमारसंभव' अधूरा पड़ा रहा। कवि मौन हो गए थे।

एक दिन सहसा कवि ने चिल्लाकर कहा, "प्रियंगु! कंथक! आओ, मैं सफल रहा!"

दोनों ही दौड़कर आ गए।

"यह देखो!" कालिदास ने दोनों हथेलियाँ फैला दीं। कोढ़

का एक भी चिह्न नहीं था। प्रियंगुमंजरी की आँखों से खुशी के आँसू बहने लगे; बोलीं, "सहसा यह सब कैसे हुआ, आर्य ?"

"देवता प्रसन्न हो गए।" कालिदास ठहाका लगाकर हँस पड़े, "मैंने साधना की थी न ! उसे भी देख लो।"

कालिदास ने बढ़कर धरती पर पड़ा अपना वस्त्र उठा लिया। नीचे भोजपत्रों का एक ढेर पड़ा था, जिन पर कालिदास के मोती जैसे अक्षर दमक रहे थे।

प्रियंगुमंजरी और कंथक पता नहीं कितनी देर तक उसमें डूबे रहे। जगे तो दोनों कवि के चरणों पर लोट गए, "धन्य हो महाकवि, धन्य हो !"

कवि ने हँसकर कहा, "मैं अकेले ही धन्य नहीं हूँ। यह सब तुम्हारे कारण हुआ है। मैं तो अपराधी हूँ। रोग अच्छा होने पर भी इतने दिन छिपाए रहा। डरता था, कहीं इस महाकाव्य की रचना में भी बाधा न पड़ जाए। राजवैद्य भी मेरी प्रार्थना पर चुप ही रहे और अन्त में 'रघुवंश' पूरा हो ही गया। इस महाकाव्य को पण्डित-सभा में भेज दो, देवि !"

प्रियंगुमंजरी ने कहा, "नहीं, महाकवि! हीरे का मूल्य जानने के लिए उसे आग में नहीं डाला जाता। 'रघुवंश' बिना पण्डितों के कहे भी महाकाव्य है और रहेगा। इसके कारण आपकी कीर्ति युगों तक धरती पर छाई रहेगी।"

द्वार से सम्राट् ने प्रवेश किया; बोले, "मित्र! जिस ग्रंथ पर देवी प्रियंगुमंजरी की यह आस्था हो, उसे पंडित-सभा में रखने की आवश्यकता नहीं। तुम महाकवि हो !"
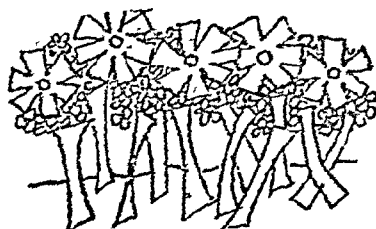
अट्ठारह

सचमुच वही हुआ। आचार्य चन्द्रकेतु ने स्वयं ही रघुवंश पढ़कर कालिदास को बधाई दी और उन्हें महाकवि कहकर उनकी वंदना की। समुद्र के उस पार तक कालिदास की कीर्ति फैल गई। कितने ही महाराज, राजा और सामन्तों ने महाकवि को अपने-अपने राज्य में बुलाकर उनका सत्कार किया। कुन्तलनरेश प्रवरसेन ने एक काव्य रचा 'सेतुबन्ध!' महाकवि ने उसे देखकर प्रशंसा की। उसमें 'संशोधन' करके उसे और भी यशस्वी बनाया।

कितने ही कवियों को प्रेरणा मिली। महाकवि का एक शब्द किसी के लिए भी वरदान था।

सिंहल द्वीप के राजा कुमारदास की रचना 'जानकीहरण' पढ़कर महाकवि झूम उठे। उन्होंने अपना सन्देश एक विशेष दूत द्वारा सिंहल भेजा।

कुमारदास के दूत-पर-दूत आने लगे—'महाकवि एक बार सिंहल-यात्रा करें! यदि उन्होंने दर्शन नहीं दिया तो मैं प्राण दे दूँगा।'

विवश होकर महाकवि चल पड़े। उनके मन में एक बार फिर युवावस्था की उमंग भर गई। हजारों कोस तक धरती पार करके उन्होंने समुद्र-यात्रा की। पाटलिपुत्र में सम्राट् विक्रमादित्य का अपार वैभव वह देख चुके थे। पर सिंहल पहुँचकर उन्हें पता चला कि यहाँ की धरती पर बिखरा प्रकृति का वैभव कम नहीं है।

राजा ने स्वागत किया। उत्सव मनाया। उनके हठ पर

कालिदास को कुछ दिन तक उनका अतिथि बनकर रुकने के लिए विवश होना पड़ा। राजा विद्वान् था। सभा में पण्डितों का आदर था। रोज कोई-न-कोई उत्सव होता। विद्वानों को किसी-न-किसी बहाने दान देना सिंहलनरेश कुमारदास का धर्म था।

कुमारदास ने कवि की सुविधा के लिए एक पूरा भवन, दास-दासी सब-कुछ दिया था। एक दिन महाकवि सोने चले। उन्हें लगा कि द्वार तक आकर कोई बार-बार लौट जाता है। उन्होंने उठकर कपाट खोल दिया। सामने ही दासी खड़ी थी।

"क्या है ?" कवि ने मृदु स्वर से पूछा।

दासी हिचकिचाई ; बोली "कुछ नहीं, आर्य ! मैं सेवा में नियुक्त हूँ, कोई कष्ट तो नहीं ?"

महाकवि हँसे ; बोले, "संकोच मत कर ! सच-सच बता कि तुझे क्या कष्ट है ?"

दासी गिड़गिड़ाकर बोली, "मैं कुछ सोच रही हूँ, आर्य ! आपके निकट रहने से मुझे प्रेरणा मिलती है।"

कालिदास को आश्चर्य हुआ। यह कैसी बात है ! उन्होंने पूछा, "क्या सोच रही है तू ?"

दासी लजाकर बोली, "आज महाराज ने एक नई समस्या दी है—कविता की एक पंक्ति। जो व्यक्ति दूसरी पंक्ति रचकर समस्या की पूर्ति कर देगा, महाराज उसे देखते-ही-देखते रंक से राजा बना देंगे।"

"अच्छा ! तो तू भी कविता करती है ? क्या समस्या है ? मैं भी सुनूँ !"

दासी ने बताया, "कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते (कमल से कमल की उत्पत्ति सुनी तो जाती है, पर कभी दिखाई नहीं पड़ी)।"

महाकवि जोर से हँस पड़े। दासी की ओर देखते हुए बोले

तुरन्त बोले! "बाले तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम् (बाले, तुम्हारे मुख-कमल में ये नेत्ररूपी दो नीले कमल कैसे खिल गए) ?"

दासी आँखें फैलाकर उनकी ओर देखती ही रह गई। मुँह खुला-का-खुला रह गया।

दूसरे दिन सभा जुटी। पर आश्चर्य है! कोई भी समस्या की पूर्ति नहीं कर सका था। राजा कुमारदास ने घोषणा करवा दी, 'यदि किसी ने समस्या की पूर्ति की हो तो सन्ध्या तक अपना पुरस्कार ले ले।'

फिर भी कोई नहीं आया। सभा में कितने ही काव्यों की चर्चा हुई। कई विद्वानों ने अपनी रचनाएँ सुनाईं। आलोचना हुई, पुरस्कार बँटे। धीरे-धीरे साँझ होने लगी।

सिंहलनरेश ने एकाएक पूछा, "आज महाकवि कालिदास ने दर्शन नहीं दिया। स्वस्थ तो हैं?"

संकेत पाते ही महामन्त्री उठकर महाकवि के भवन की ओर चल पड़े।

तभी सभा में दासी आ खड़ी हुई। प्रणाम करके बोली, "मैं समस्या की पूर्ति कर लाई हूँ, प्रभो!"

"तू!" एक साथ सभा-भवन में आश्चर्य-भरा प्रश्न गूँजा।

राजा कुमारदास कुछ देर अपलक उसकी ओर देखते रहे, फिर उन्होंने आज्ञा दी, "सुना!"

और दासी ने कालिदास की कही हुई वही पंक्ति दुहरा दी, "बाले, तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम्?"

सुनते ही सारी सभा प्रशंसा के स्वर से गूँज उठी। थोड़ी देर तक कोलाहल मचा रहा। एकाएक राजा ने कहा, "तेरी पूर्ति विचित्र है! पुरस्कार तो तुझे मिलेगा ही, पर सच-सच यह रचना किसकी है? तू इसे नहीं रच सकती, कभी

दासी हकलाकर बोली, "मेरी ही है प्रभो, मेरी ·"

"सर्वनाश हो गया महाराज, सर्वनाश !" महामन्त्री हाँफते हुए भीतर आए, "मुझे अभय-दान दीजिए प्रभो ! मेरे प्राणों की रक्षा हो ! महाकवि कालिदास इस लोक में नहीं रहे। किसी नारकीय ने उनकी हत्या कर दी ··"

"दा ऽऽऽ सी ऽऽऽ ··" महाराज कुमारदास तुरन्त ही चीख उठे, "तूने धन के लोभ में धरती का सबसे उजला दीप बुझा दिया !"

दासी अचेत होकर गिर पड़ी।

सिंहलनरेश नंगे पाँव सभा से उठकर महाकवि के भवन की ओर दौड़ पड़े। पीछे-पीछे सारी सभा थी।

समुद्र के तट पर चन्दन की चिता। चारों ओर सिंहल की प्रजा खड़ी थी। पण्डितों ने मन्त्रों का उच्चारण किया। घी डालकर चिता में आग लगा दी गई और देखते-ही-देखते ऊँची-ऊँची लपटों ने महाकवि कालिदास की देह को अपनी गोद में छिपा लिया।

सहसा एक अजीब-सी चीख सुनाई पड़ी। कोई कुछ भी न समझा। किसी ने देखा, किसी की पलकें झप गई। फिर सब थरा-से गए। पता नहीं कब सिंहलनरेश महाराज कुमारदास दौड़कर चिता पर चढ़ गए और महाकवि की देह को छाती से चिपकाकर पड़ रहे।

आग की लपटें और ऊँची हो गईं। सिंहल की प्रजा आँख फाड़े देखती रह गई। देश-देश से आए विद्वान् भी जड़ की तरह [illegible] सब कुछ भस्म हो गया।